सुदर्शन-सुमन

[उत्कृष्ट मौलिक कहानियां]

लेखक
सुदर्शन

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट
दिल्ली

मूल्य
साढ़े तीन रुपया

मुद्रक
बालकृष्ण एम० ए०, युगान्तर प्रेस
डफ़रिन पुल, देहली

सूची

राजा

"सौ साल !"

मैं चौंक पड़ा। मुझे अपने कानों पर विश्वास न आया। मैंने कापी मेज़ पर रख दी और अपनी कुरसी को थोड़ा-सा आगे सरकाकर पूछा—"क्या कहा तुमने ? सौ साल ? तुम्हारी उम्र सौ साल है ?"

तीनों कोटों को एक साथ बाँधते हुए धोबी ने मेरी तरफ़ देखा और उत्तर दिया—"हां बाबू साहब ! मेरी उम्र सौ साल है। पूरी सौ साल। न एक साल कम, न एक साल ज्यादा। मेरी सूरत देखकर बहुत लोग धोखा खा जाते हैं।"

"मगर तुम इतने बड़े मालूम नहीं होते। मेरा विचार था, तुम सत्तर साल से ज्यादा न होगे।"

"नहीं बाबू साहब ! पूरे सौ साल खा चुका हूँ।"

"बड़े भाग्यवान् हो। आजकल तो लोग पचास साल से पहले ही तैयारी कर लेते हैं।"

धोबी ने इसका कोई उत्तर न दिया।

सहसा मेरे हृदय में एक विचार उत्पन्न हुआ। मैंने पूछा—"अच्छा भाई धोबी ! यह तो कहो, तुमने सिक्खों का राज्य तो देखा होगा।"

"हां, देखा है।"

"उस राज्य में तुम सुखी थे या नहीं? मेरा मतलब यह है, उस राज्य में लोगों की क्या दशा थी?"

धोबी ने मेरी ओर सतृष्ण नेत्रों से देखा, जैसे किसी को भूली हुई बात याद आ जाय; और ठण्डी साँस भर कर बोला—"मैं उस ज़माने में बहुत छोटा था। सिक्खों का राज्य कैसा था, यह नहीं कह सकता। हाँ, सिक्खों का राजा कैसा था, यह कह सकता हूँ।"

मेरे हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी, पूछा—"तो तुमने महाराज का दर्शन किया है?"

"हाँ सरकार! दर्शन किया है। क्या कहना! अजीब आदमी थे। उनकी वह शक्ल-सूरत याद आती है तो दिल में भाले से चुभ जाते हैं। बहुत दयालु थे। राजा थे, मगर स्वभाव साधुओं का था। घमण्ड का नाम भी न था। मैं आपको एक बात सुनाता हूँ। शायद आपको उस पर विश्वास न आए। आप कहेंगे, यह कहानी है। मगर यह कहानी नहीं, सच्ची घटना है। इसमें झूठ ज़रा भी नहीं। इसे सुनकर आप खुश होंगे। आपको अचरज होगा। आप उछल पड़ेंगे। मैं मामूली हिन्दी जानता हूँ, पर मैंने बहुत किताबें नहीं पढ़ीं। आप रात-दिन पढ़ते रहते हैं। परन्तु मुझे विश्वास है, ऐसी घटना आपने भी कम पढ़ी होगी।"

मैं दत्तचित्त होकर सुनने लगा।

(२)

मैं धोबी हूँ। मेरा बाप भी धोबी था। हम उन दिनों लाहौर ही में रहते थे। पर आज का लाहौर वह लाहौर नहीं। हम उस ज़माने में जहाँ कपड़े धोया करते थे, वह घाट अब खुश्क हो चुका है। रावी नदी दूर चली गई है, और उसके साथ ही वह दिन भी दूर चले गए हैं। भेद केवल यह है कि रावी थोड़ी दूर जाकर नज़र आ जाती है, मगर वह ज़माना कहीं दिखाई नहीं देता। भगवान् जाने, वह कहाँ चला गया है।

मेरी उम्र उन दिनों सात-आठ साल की थी, जब चारों तरफ़ अकाल का शोर मचा। ऐसा अकाल इससे पहले किसी ने न देखा था। लगातार अढ़ाई साल वर्षा न हुई। किसान रोते थे। तालाब, नदी, नाले सब सूख गए। पानी सिवाय आँखों के कहीं नज़र न आता था। मुझे वे दिन आज भी कल की तरह याद हैं जब हम लंगोटे लगाए, मुँह काले कर बाज़ारों में डण्डे बजाते फिरते कि शायद इसी तरह वर्षा होने लगे। मगर वर्षा न हुई। लड़कियाँ गुड़ियाँ जलाती थीं; और उनके सिर पर खड़ी होकर छाती कूटती थीं। पानी बरसाने का यह नुस्खा उस युग में बड़ा कारगर समझा जाता था; लेकिन उस समय इससे भी कुछ न बना। मुसलमान मसजिदों में नमाज़ पढ़ते, हिन्दू मन्दिरों में पूजा करते, सिक्ख गुरुद्वारों में ग्रन्थ-साहब का पाठ करते। मगर वर्षा न होती थी। भगवान् कृपा ही न करता था। दुनिया भूखों मरने लगी। बाज़ारों में रौनक न थी, दुकानों पर ग्राहक न थे, घरों में अनाज न था। ऐसा मालूम होता था, जैसे प्रलय का दिन निकट आ गया है और सबसे बुरी दशा जाटों की थी। मेरा बाबा कहता था, इस समय उनके चेहरे पर खुशी न थी। आँखों में चमक न थी, शरीर पर माँस न था। सबकी आँखें आकाश की ओर लगी रहती थीं मगर वहां दुर्भाग्य की घटाएँ थीं, पानी की घटाएँ न थीं। अनाज रुपये का बीस सेर बिकने लगा।

मैंने आश्चर्य से पूछा—"बीस सेर ?"

"जी हाँ बीस सेर! उस समय यह भी बहुत मंहगा था। आजकल रुपये का सेर बिकने लगे, तो भी बाबू लोग अनुभव नहीं करते। मगर उस समय यह दशा न थी। मेरे घर में एक मैं था, एक मेरा बूढ़ा बाबा, एक विधवा माँ, दो बहनें। इन सब का खर्च चार-पाँच रुपये मासिक से अधिक न था।

मैंने अधीरतावश बात काटकर पूछा—"फिर ?"

"हाँ तो फिर क्या हुआ। अनाज बहुत महंगा हो गया, लोग रोने

लगे। अन्त में यहाँ तक नौबत आ पहुँची कि हमारे घर में खाने को न रहा। ज़ेवर, बरतन सब बेचकर खा गए। केवल तन के कपड़े रह गये। सोचने लगे, अब क्या होगा। मेरा बाबा, भगवान् उसे स्वर्ग में जगह दे, बड़ा हँसमुख मनुष्य था। हर समय फूल की तरह खिला रहता था। प्रायः कहा करता था, जो संकट आए हँसकर काटो। रोने से संकट कम नहीं होता, बढ़ता है। मैंने सुना है, मेरे बाप के मरने पर उसकी आँख से आँसू की बूँद न गिरी थी। परन्तु इस समय वह भी रोता था। कहता था, कैसी तबाही है, बाल-बच्चे सामने भूखों मरते हैं और मैं कुछ कर नहीं सकता। यहाँ तक कि कई दिन हमने वृक्षों के पत्ते उबाल कर खाए।

एक दिन का जिक्र है। बाबा आँगन में बैठा हुक्का पीता था, और आकाश की तरफ देखता था। मैंने कहा—"बाबा! अब नहीं रहा जाता। कहीं से रोटी का टुकड़ा ला दो! पत्ते नहीं खाए जाते।"

बाबा ने ठण्डी साँस भरी और कहा—"अब प्रलय का दिन दूर नहीं।"

मैं—"प्रलय क्या होती है?"

बाबा—"जब सब लोग मर जाते हैं।"

मैं—"तो क्या अब सब लोग मर जाएंगे?"

बाबा—"और क्या बेटा! जब खाने को न मिलेगा, तब मरेंगे नहीं तो और क्या होगा?"

मैं—"बाबा! मैं तो न मरूँगा। मुझे कहीं से रोटी मंगवा दो। बहुत भूख लगी है।"

बाबा की आँखों में आँसू आ गए। भर्राई हुई आवाज़ से बोला—"ऐसा ज़माना कभी न देखा था। तुम वृक्षों के पत्ते से उकता गए हो। गाँव के लोग तो मेंढक और चूहे तक खा रहे हैं।"

मैं—"बाबा! ऐसी चीज़ें वे कैसे खा लेते हैं?"

बाबा—"पेट सब कुछ करा लेता है।"

मैं—"पर ये चीज़ें बड़ी घृणित हैं ।"

बाबा—"इस समय कौन परवाह करता है, भाई !"

मैं—"उनका जी कैसे मानता होगा ?"

बाबा—"भगवान् किसी तरह यह दिन निकाल दे ।"

मैं—"बाबा, मेंह क्यों नहीं बरसता ?"

बाबा—"हमारी नीयतें बदल गई हैं । वर्ना ऐसा समय कभी न सुना था । आज हर एक दृष्टि में लाली है मानो हर आँख में खून है, पानी नहीं है । तुम अजान हो, जाओ, कहीं से माँग लाओ । शायद कोई तरस खाकर तुम्हें रोटी का एक टुकड़ा दे दे ।"

मैं—"तो जाऊँ ?"

बाबा—"भगवान् अब मौत दे दे । ग़रीब थे, पर किसी के सामने हाथ तो न फैलाते थे ।"

(३)

मैं भूख से मर रहा था, रोटी माँगने को निकल पड़ा । मेरा विचार था, अकाल शायद ग़रीबों के यहाँ ही है । मगर बाहर निकला, तो सभी को ग़रीब पाया । उदास सब थे, खुश कोई भी न था । मैं बहुत देर तक इधर-उधर माँगता फिरा, मगर किसी ने रोटी न दी । मैं निराश होकर घर को लौटा, पर पाँव मन-मन के भारी हो रहे थे ।

सहसा एक जगह लोगों का समूह नज़र आया । मैं भी भागकर चला गया । देखा सरकारी आदमी मुनादी कर रहा है, और लोग उसके गिर्द खड़े खुश हो रहे हैं । मैं चकित रह गया । मैं समझ न सकता था कि उनके खुश होने का कारण क्या है । मगर थोड़ी देर बाद रहस्य खुल गया । महाराज रणजीतसिंह ने शाही क़िले में अनाज की कोठड़ियाँ खुलवा दी थीं, और घोषणा कर दी थी कि जिस-जिस ग़रीब को आवश्यकता हो, ले जाए, दाम न लिया जायेगा । लोग महाराज की इस उदारता पर चकित रह गये । कहते थे ये आदमी नहीं, देवता हैं । मुसल-

मान कहते थे, कोई औलिया हैं। अब खुदा की ख़लक़त भूखों न मरेगी। खुदा नहीं सुनता, राजा तो सुनता है। ख़लक़त के लिए राजा ही खुदा है। एक आदमी कह रहा था, महाराज ने आदमी बाहर भेजे हैं कि जितना अनाज मिल सके, खरीद लाओ। मेरी प्रजा मेरी सन्तान है, मैं उसे भूखा न मरने दूँगा।

दूसरा आदमी बोला—"मगर महाराज पहले क्या सो रहे थे? यह विचार पहले क्यों न आया, अब क्यों आया है?"

पहले आदमी ने उत्तर दिया—"महाराज सोते नहीं थे, जागते थे। हर समय पूछते रहते थे कि अब अनाज का क्या भाव है, अब लोगों का क्या हाल है? कल तक यही पता था कि अनाज महँगा है। आज समाचार पहुँचा कि बाज़ार में अनाज का दाना भी नहीं मिलता। महाराज घबरा गए कि अब क्या होगा? आख़िर उन्होंने आदमी बाहर भेज दिये कि जितना अनाज मिल सके, ख़रीद लाओ। मैं लोगों में मुफ्त बाँटूगा। मेरे कोष में रुपया रहे या न रहे, मगर लोग बच जाएँ।"

एक हिन्दू बोला—"इन्होंने तो कह दिया कि महाराज क्या पहले सोते थे? यह मालूम नहीं, महाराजाओं को एक की चिन्ता नहीं होती, सबकी चिन्ता होती है।"

दूसरा—"भाई, मेरा यह अभिप्राय थोड़ा ही था।"

पहला—"एक और बात भी है। महाराज ने बाहर के क़िलेदारों को भी यही आज्ञा भेजी है।"

दूसरा—"आफ़रीन है। राजा हो तो ऐसा हो।"

तीसरा—"कोई और होता तो कहता, वर्षा नहीं हुई तो इसमें मेरा क्या दोष है। मेरे राजभवन में तो सब कुछ है।"

दूसरा—"इस समाचार से मरते हुए लोगों में जान पड़ जायगी।"

तीसरा—"आज शहर की दशा देखना।"

पहला—"किसी की आँख में चमक न थी।"

दूसरा—"ऐसा अंधेर कभी न हुआ था।"

तीसरा—"पर अब परमेश्वर ने सुन ली।"

मैं यहाँ से चला तो ऐसा प्रसन्न था जैसे कोई अनमोल चीज़ पड़ी मिल गई हो। कुछ देर संयम करके मैं धीरे-धीरे चला, फिर दौड़ने लगा। डरता था कि यह शुभ समाचार घर में मुझ से पहले न पहुँच जाए। मैं चाहता था, घर के लोग यह खबर मुझ ही से सुनें। गोली के सदृश भागा जाता था, मगर घर के पास पहुँच कर गति कम कर दी और धीरे-धीरे घर में दाखिल हुआ। मेरा बाबा उसी तरह सिर झुकाए बैठा था। मेरा हृदय खुशी से धड़कने लगा—वह अभी तक न जानता था।

मुझे ख़ाली हाथ देखकर बाबा ने ठण्डी साँस भरी और सिर झुका लिया। मैंने जाकर बाबा का हाथ पकड़ लिया और उसे ज़ोर से घसीटता हुआ बोला—"उठो, चादर लेकर चलो, महाराज ने मुनादी कर दी है, अनाज मुफ्त मिलेगा।"

मेरी माँ, मेरी बहनें, मेरा बाबा सब चौंक पड़े। उनको मेरे कहने पर विश्वास न हुआ। सिर हिलाते थे और कहते थे—"बच्चा है, किसी ने मज़ाक़ किया होगा। यह सच समझ बैठा है, भला महाराज सारे शहर को अनाज मुफ्त कैसे दे देंगे ? बहुत कठिन है।"

मगर मैंने कहा—"मैंने मुनादी अपने कानों से सुनी है। यह ग़लत नहीं है। लोग सुनते थे और खुश होते थे। तुम चादर लेकर मेरे साथ चलो।"

मेरा बाप चादर लेकर मेरे साथ चला। उसको अभी तक संदेह था कि यह मज़ाक़ है। लेकिन बाज़ार में आकर देखा तो हज़ारों लोग उधर ही जा रहे थे। अब उसको मेरी बात पर विश्वास हुआ।

क़िले में पहुँचे तो वहाँ आदमी ही आदमी थे। पर किसी अमीर को अन्दर जाने की आज्ञा न थी। फाटक पर सिपाही खड़े थे। वे जिसके कपड़े सफ़ेद देखते उसे रोक लेते। कहते, यह अनाज ग़रीबों की सहायता के लिए है, अमीरों के घर तो अब भी भरे हुए हैं। यह ग़रीबों का लंगर था, अमीरों का भोज न था। मेरी इतनी उम्र हो गई है। मैंने अमीरों

के लिए सब दर खुले देखे हैं, उनको कहीं रोक-टोक नहीं होती। पर वहाँ अमीर खड़े मुँह ताकते थे, और उनकी कोई परवाह न करता था। हम ग़रीब थे, हमें किसी ने नहीं रोका। हम अन्दर चले गए। वहाँ देखा कि सैंकड़ों सरकारी आदमी तराज़ू लिए बैठे हैं, और तोल-तोल कर २०-२० सेर अनाज सबको देते जाते हैं। लेकिन हर घर में एक ही आदमी को देते, दूसरों को लौटा देते थे। लोग बहुत थे, आगे बढ़ना आसान न था। मैं छोटा था, मेरा बाबा बूढ़ा था, और हमारे साथ कोई जवान आदमी न था। हमने कई आदमियों से मिन्नत की कि हमें भी अनाज दिलवा दो, मगर उस आपाधापी के समय किसी की कौन सुनता है। मेरे बाबा ने दो बार आगे बढ़ने का प्रयत्न किया, मगर दोनों बार धक्के खाकर बाहर आ गया। तब मैं और मेरा बाबा दोनों एक तरफ़ खड़े हो गए और अपनी विवशता पर कुढ़ने लगे।

(४)

सन्ध्या के समय जब अन्धेरा हो गया, तब शंख के बजने की आवाज़ सुनाई दी। इसके साथ ही अनाज देने वालों ने अनाज देना बन्द कर दिया। हुक्म हुआ, बाकी लोग कल आकर ले जाएँ। लेकिन अगर कोई दुबारा आ गया तो उसकी खैर नहीं, महाराज खाल उतरवा लेंगे। लोग निराश हो गए, पर क्या करते। धीरे-धीरे सारा आँगन खाली हो गया। हम कैसे चले जाते? कई दिन से भूखे मर रहे थे। दोनों रोने लगे। बाबा बोला—"बेटा! हम कैसे अभागे हैं, नदी के किनारे आकर भी प्यासे लौट रहे हैं। जो भाग्यवान् थे, वे झोलियाँ भर कर ले गए। हम खड़े देखते रहे। अब खाली हाथ लौट जायेंगे।"

मैं—"बाबा! उनसे कहो, हमें दे दें। हम बहुत भूखे हैं।"

बाबा—"कौन सुनेगा? चलो घर चलें। अनाज न मिलेगा, गालियाँ मिलेंगी।"

मैं—"तुम कहो तो सही।"

बाबा—"बेटा ! तुम कैसी बातें करते हो। ये लोग अब न देंगे, कल फिर आना पड़ेगा।"

मैं—"तो आज क्या खाएंगे ?"

बाबा—"ग़रीबों के लिए ग़म के सिवा और क्या है ? आज की रात और सब्र करो।"

मैं—"बाबा ! मैं तो न जाऊँगा। कहो, शायद दे दें।"

बाबा—"तुम पागल हो ! क्या मैं भी तुम्हारे साथ पागल हो जाऊँ ?"

इतने में एक सरदार आकर हमारे पास खड़ा हो गया, और बोला—"अब जाते क्यों नहीं ? कल आ जाना, आज अनाज न मिलेगा।"

बाबा—(ठण्डी साँस भर कर) "जाते हैं सरकार !"

इस विवशता से उन सरदार साहब का दिल पसीज गया। ज़रा ठहर कर बोले—"तुम कौन हो ?"

बाबा—"धोबी हैं।"

सरदार—"कल न आ सकोगे ?"

बाबा—"आने को तो सिर के बल आएंगे, पर ग़रीब आदमी हैं। मैं बुड्ढा हूँ, यह अभी बच्चा है। भीड़ में पता नहीं कल भी अवसर मिले, न मिले। आज मिल जाता तो रात को पीस कर खा लेते।"

सरदार—"तुम्हारे यहाँ कोई जवान आदमी नहीं है ?"

बाबा—"नहीं सरकार ! इस बालक का बाप था, वह भी मर गया।"

सरदार—"तो कल आना कठिन है तुम्हारे लिये ?"

मैं—"सरकार आज ही दिला दें।"

सरदार—(हँसकर) "आओ आज ही दिला दूँ।"

मैं—"बाबा कहता था, आज न देंगे। क्यों बाबा ?"

सरदार साहब हँसने लगे, मगर मेरे बाबा ने मुझे संकेत किया कि चुप रहो। मैं चुप हो गया। सरदार साहब ने कहा—"आओ तुम्हें दिला दूँ।"

हम सरदार साहब के पीछे-पीछे चले। उन्होंने अनाज के ढेर के पास पहुँच कर एक आदमी से कहा—"इस बुड्ढे को बीस सेर गेहूँ दे दो।"

वह आदमी मेरे बाबा से बोला—"चादर फैला दो।" और गेहूँ तोलने लगा।

मेरा बाबा बोला—"सरकार! अब फिर कब मिलेगा?"

सरदार—"अगले सप्ताह।"

बाबा—"हम कई दिन से भूखों मर रहे हैं।"

सरदार—(हँसकर) "तो और क्या चाहते हो?"

बाबा—"सरकार! कहते हुए भी शर्म आती है, क्या करूँ?"

सरदार—"नहीं कह दो। कोई बात नहीं।"

बाबा—"बीस सेर और दिला दें तो बड़ी कृपा हो। आपकी जान को दुआएँ देता रहूँगा।"

सरदार—"बड़े लोभी हो।"

बाबा—"सरदार साहब, पेट माँगता है तब जीभ खुलती है, नहीं तो हम ऐसे बेग़ैरत कभी न थे।"

सरदार—"अगर इसी तरह तमाम लोग करें तो कैसे पूरा पड़े?"

बाबा—"सरकार! राजा के महल में मोतियों की क्या कमी है! नहीं होता तो न दें फिर द्वार पर आ पड़ेंगे। शहर में बड़ा यश हो रहा है। (मुझ से) बेटा! नमस्कार कर। इन्होंने हमें बचा लिया, ... रात रोते कटती।"

मैं—(आगे बढ़ कर) "नमस्कार!"

सरदार—(मुस्करा कर) "जीते रहो बेटा! तुम्हारा क्या नाम है?"

मैं—"जग्गो।"

सरदार—"अब अनाज मिल गया ना, जाओ रोटियाँ पकाकर खाओ।"

मैं—"सरकार ! बीस सेर और दिला दें।"

सरदार—"अरे ! तू तो बाबा से भी लोभी निकला।"

मैं—"नहीं सरकार, बीस सेर और दिला दें।"

सरदार—(अनाज तोलने वाले से) "बीस सेर और तोल दे। बूढ़ा बाबा बार-बार कैसे आएगा ?"

बीस सेर और मिल गया।

सरदार—"बाबा, अब तो खुश हो गए ?"

बाबा—"वाहे गुरू आपका यश दूना करे।"

सरदार—"महाराज की जान को दुआ दो। यह सब उनकी कृपा है, नहीं तो लोग भूखों मर जाते और सच पूछो तो यह उनका धर्म था। न करते तो पाप के भागी बनते, राजा प्रजा का पिता होता है।"

बाबा—"सच है सरकार ! महाराज ऋषि हैं।"

सरदार—"ऋषि तो क्या होंगे। आदमी बनें तो यह भी बड़ी बात है।"

अब तक सब तोलने वाले आदमी जा चुके थे। क़िले में हमीं थे, और कोई न था। सरदार साहब बोले—"अब उठाकर ले जाओ।"

ग़रीब दावत में जाकर खाता बहुत है, यह नहीं सोचता पचेगा या नहीं। बाबा ने भी अनाज ले बहुत लिया; अब उठाना मुश्किल था। क्या करे, क्या न करे। उस समय सिक्खों का वही रोब था, जो आज अंग्रेज़ों का है। बाबा सहम कर बोला—"सरदार साहब, गठरी भारी है। कोई सिर पर रख दे तो ले जाऊँ।"

सरदार साहब ने गठरी उठा कर मेरे बाबा के सिर पर रख दी।

बाबा दो क़दम चल कर गिर गया।

सरदार साहब बोले—"क्यों भाई ! इतना अनाज क्यों बंधवा लिया जो उठाये नहीं उठता। बीस सेर लेते तो यह तकलीफ़ न होती। लोभ

करते हो, अपनी देह की ओर नहीं देखते। जाओ, अपने किसी आदमी को बुला लाओ। तुम से न उठेगा।"

मेरे बाबा ने आह भरी और कहा—"सरकार! मेरी सहायता कौन करेगा?"

सरदार साहब ने कुछ देर सोचा, फिर वह गठरी अपने सिर पर उठाकर चलने लगे। हम दंग रह गये। हमारे शरीर के एक-एक अंग से उनके लिए दुआ निकल रही थी। हम सोचते थे, यह आदमी नहीं देवता है।

(५)

यहाँ पहुँच कर धोबी रुक गया। कहानी ने बहुत मनोरंजक रूप धारण कर लिया था। मैं इसका अगला भाग सुनने को अधीर हो रहा था। मैंने जल्दी से पूछा—"क्यों भाई धोबी! फिर क्या हुआ?"

धोबी ने वायु-मण्डल में इस भांति देखा, जैसे कोई खोई वस्तु को खोज रहा हो, और फिर दीर्घ निश्वास लेकर बोला—"जब हम घर पहुँचे और सरदार साहब अनाज की गठरी हमारे आँगन में रखकर लौटे तो मैं और मेरा बाबा दोनों उनके साथ बाज़ार तक चले आए। मेरा बाबा बार-बार कहता था, इसका फल आपको वाहे-गुरु देंगे, मैं इसका बदला नहीं दे सकता। एकाएक उधर से कुछ फ़ौजी सिक्ख निकल आए। वे सरदार साहब जहाँ खड़े थे, वहाँ रोशनी थी। फ़ौजियों ने उनको पहचान लिया और तलवारें निकाल कर सलाम किया। यह देखकर मेरा बाबा डर गया, सोचा-यह कौन है? कोई बड़ा ओहदेदार होगा, वर्ना ये लोग इस प्रकार सलाम न करते।

जब सरदार साहब चले गए तब मेरा बाबा उन फ़ौजियों के पास पहुँचा और पूछा—"यह कौन थे?"

उनमें से एक ने बाबा की तरफ आश्चर्य से देखा और जवाब दिया—"तुम नहीं जानते? यह हमारे महाराज थे।"

बाबा चौंक पड़ा। उसकी आँखें खुली रह गईं। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला।

यह महाराज थे। वही महाराज, जिनकी आँख के इशारे पर फ़ौजों में हलचल मच जाती थी, जो अपने युग के सब से बड़े राजा थे, जिनके सामने अभ्युदय हाथ बाँधता था। आज ये एक धोबी के घर गेहूँ की गठरी छोड़ने आए हैं। यह सच्चे महाराज हैं। इनका राज्य दिलों पर है।

उस रात हमें नींद न आई। सारा घर जागता था और महाराज के लिए दुआ माँगता था। दूसरे दिन बड़े ज़ोर की वर्षा हुई।

यह कहानी सुनाकर धोबी चुप हो गया। मेरे रोएँ खड़े हो गए। आँखों में पानी भर आया। आज वह समय कहाँ चला गया? आज ऐसे राजा लोग क्यों नहीं नज़र आते? उनको भ्रमण का शौक़ है, विषय-वासना का चाव है, परन्तु अपनी प्रजा के हित-अहित का ध्यान नहीं।

मैंने धोबी की तरफ देखा; उसकी भी आँखें सजल थीं। मैंने ठण्डी साँस भरी।

धोबी ने कपड़े गिनकर कहा—"बाबू साहब! लिखिए चौदह पायजामे, बीस क़मीज़ें।"

मैंने कापी उठा ली और लिखने लगा।

गुरु-मंत्र

आधी रात के समय नवयुवक एकनाथ ने बहुत धीरे से अपने मकान का दरवाज़ा खोला और बाहर निकल आया। गली, बाज़ार, गाँव— सब सुनसान और अन्धकारमय थे। एकनाथ ने एक क्षण के लिए ठहर कर अपने घर की तरफ़ देखा, अपने बूढ़े बाबा और निर्बल दादी का ख्याल किया, अपने मित्र-बन्धुओं के विषय में सोचा और उसकी आँखों में पानी आ गया। मगर यह निर्बलता कुछ ही क्षणों के लिए थी, जैसे कभी-कभी पंछी पर खोलते समय रुक जाता है। एकाएक उसने आँसू पोंछ डाले और जल्दी-जल्दी पाँव उठाता हुआ गाँव से बाहर चला गया। पिंजरे में दाना-पानी सब कुछ था, परन्तु पंछी ने किसी की भी परवा न की और उड़ गया। चारों ओर अन्धेरा था। दूर काले वृक्षों की काली छाया तले कुत्ते और गीदड़ों के रोने की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। घर में बूढ़े बाबा और दादी का वात्सल्य बेसुध पड़ा था, मगर एकनाथ सम्पूर्ण दृढ़ता से झाड़ियों में उछलता हुआ, गड्ढों में गिरता हुआ, पत्थरों से ठोकरें खाता हुआ आगे चला जाता था, और उसे इस बात की ज़रा भी चिन्ता न थी कि मार्ग

भयानक है और रात के अन्धेरे में कई बलाएँ छिपी हो सकती हैं।

प्रातःकाल जब दो बूढ़ों के हृदय-विदारक आर्तनाद से पैठन गाँव में कुहराम मचा हुआ था, वह कई कोस की यात्रा समाप्त कर चुका था; और एक नदी के किनारे बैठा अपने पाँव धो रहा था, जिन्हें जंगल के काँटों ने लहूलुहान कर दिया था। उसकी देह रतजगी यात्रा से चूर-चूर हो रही थी। परन्तु उसके विचार आशा के आकाश में उड़े चले जाते थे, और उन्हें रोकने की शक्ति पृथ्वी की किसी भी वस्तु में न थी। थोड़ी देर के बाद वह उठा और अपने गाँव की तरफ़ मुँह करके खड़ा हो गया। इस समय वह अपने घर की दशा का चिन्तन कर रहा था और अपनी आन्तरिक आँखों से वहाँ के दृश्य देख रहा था। हम अपना घर छोड़ सकते हैं, परन्तु उसकी स्मृति को भूलना आसान नहीं।

इतने में एक मुसाफ़िर घोड़े पर सवार उधर से गुज़रा और एकनाथ के पास पहुँच कर रुक गया। एकनाथ ने दोनों हाथ बाँध कर अभिवादन किया। मुसाफ़िर ने आशीर्वाद दिया और पूछा—"कहाँ जाओगे भैया?"

एकनाथ ने अपने गाँव की ओर पीठ मोड़ ली और अपने सम्मुख फैले हुए विस्तृत जंगल की तरफ़ उँगली उठाकर उत्तर दिया—"बड़ी दूर!"

मुसाफ़िर—"मगर फिर भी कहाँ?"

एकनाथ—"श्री गुरु जी के चरणों में।"

मुसाफ़िर घोड़े से उत्तर आया और एकनाथ के कंधे पर स्नेह से अपना हाथ रख कर बोला—"तुम्हारा गुरु कौन है?"

एकनाथ—"पंडित जनार्दन पन्त।"

यह कहकर एकनाथ ने दोनों हाथ बाँधकर नम्रता से सिर झुका लिया, जैसे वह इस समय भी गुरु के सामने खड़ा था। मुसाफ़िर को नवयुवक की श्रद्धा पर आश्चर्य हुआ—"कौन जनार्दन पंत? क्या वही तो नहीं, जो देवगढ़ के दीवान हैं?"

एकनाथ—"जी हाँ, वही महात्मा जिनके सदृश दूसरा आत्म-संयमी

आज सारे भारतवर्ष में नहीं है। क्या आपने उनके दर्शन किए हैं?"

यह कहकर उसने मुसाफ़िर की ओर बड़ी उत्सुकता से देखा।

मुसाफ़िर—हाँ, कई बार दर्शन किए हैं, परन्तु वे तो किसी को गुरु-मन्त्र नहीं देते, न मैंने उनके यहाँ कोई शिष्य देखा है। मुझे आश्चर्य है कि उन्होंने तुम्हें कैसे चेला बना लिया।"

एकनाथ—(उदास होकर) "उन्होंने मुझे चेला नहीं बनाया।"

मुसाफ़िर—"अरे!"

एकनाथ—"मगर मैंने उसको गुरु बना लिया। अब जाकर श्रीचरणों में लेट जाता हूँ। देखूंगा कैसे कृपा नहीं करते?"

मुसाफ़िर—"तुम्हारी आयु थोड़ी है अभी।"

एकनाथ—"समझदार के लिए थोड़ी भी बहुत है।"

मुसाफ़िर—"क्या तुम्हें संसार का अनुभव है?"

एकनाथ—"गुरुजी की कृपादृष्टि से अनुभव भी हो जाएगा।"

मुसाफ़िर—"यह मार्ग बड़ा विकट है।"

एकनाथ—"साहस हो, तो सारे काम बन जाते हैं।"

मुसाफ़िर ने हँसकर कहा—"मगर बेटा! देवगढ़ तक कैसे पहुँचोगे? बड़ी दूर है यहाँ से।"

एकनाथ—"जिनके दिल को लगी हो, उनके लिए दूरी कोई चीज़ नहीं है।"

मुसाफ़िर—"कोई घोड़ा क्यों नहीं ले लेते?"

एकनाथ—"गुरुजी के पास नंगे पाँव ही जाना ठीक है।"

मुसाफ़िर ने यह बातें सुनीं तो बड़ा खुश हुआ। उसने दुनिया देखी थी, मगर ऐसा नवयुवक उसकी आँखों से आज तक न गुज़रा था। यह नवयुवक न था, श्रद्धा और पुरुषार्थ की जीती-जागती मूर्ति था। उसने एकनाथ को प्रेम से देखा और घोड़े पर सवार होकर चल दिया।

(२)

कितने कष्ट सह कर, कितने संकट झेल कर एकनाथ देवगढ़ पहुँचा, इसका अनुमान करना आसान नहीं। परन्तु देवगढ़ पहुँच कर उसको वह सारे कष्ट भूल गए। प्यासा हरिण जल की खोज में कितना भागता है, कैसा घबराता है, उसका शरीर थक कर पसीना-पसीना हो जाता है, परन्तु जल के समीप पहुँच कर उसकी सारी थकान जाती रहती है, वहाँ जाकर उसका कुम्हलाया हुआ हृदय-कमल देखते-देखते खिल उठता है। एकनाथ की भी यही दशा थी। वह अब गुरुजी की नगरी में आ पहुँचा था। वह स्वर्गीय स्वप्नों की पुण्यभूमि में आ गया था, जिसके लिये उसकी आंखें तरसती थीं।

तीसरे पहर का समय था, एकनाथ पण्डित जनार्दन पन्त की सेवा में उपस्थित हुआ। उस समय पण्डितजी सरकारी काग़ज़ देखने में तन्मय हो रहे थे। एकनाथ चुपचाप एक कोने में खड़ा हो गया और भक्ति-भाव से उनकी ओर देखने लगा। यही वह व्यक्ति है, जो संसार और संसार के व्यवहार में रहते हुए भी संसार से बाहर है, जो गृहस्थी होते हुए भी अपने युग का सबसे बड़ा भक्त है, जो देवगढ़ का दीवान भी है, सूरमा सिपाही भी है, सेनापति भी है, और पण्डित भी है। यही वह राज-भक्त है, जिसका हिन्दू-मुसलमान दोनों सम्मान करते हैं, जिसके सामने सिर उठाने की बादशाह को भी मजाल नहीं। एकनाथ गद्गद् हो गया। उसकी आंखों में पानी भर आया। सहसा पंडितजी ने सिर उठाया और एकनाथ की तरफ़ देखा। एकनाथ के शरीर में बिजली की लहर-सी दौड़ गई। यह तो वही मुसाफ़िर थे, जो उसे अपने गांव के पास मिले थे, जो हँस-हँस कर बातें कर रहे थे, जिनकी आंखों में मन को मोहने वाली शक्ति भरी थी। एकनाथ दौड़ कर आगे बढ़ा और पंडितजी के चरणों में लिपट गया। इस समय उसके आंसू पंडितजी के पांव पर गिर रहे थे। मगर यह आंसू साधारण आंसू न थे। एकनाथ

का प्रेम था, जो अपने गुरु के श्री चरणों पर निछावर हो रहा था। यह उसकी श्रद्धा थी, जो अपने देवता को रिझाने के लिये हृदय-गृह से चली थी।

पंडितजी ने उसे पांव पर से उठाया और उद्दण्ड से उद्दण्ड पुरुष को भी बस में कर लेने वाले ढंग से मुस्करा कर कहा—"आखिर तुम यहां आ गये? मगर बहुत कष्ट हुआ होगा?"

एकनाथ ने उनके पांव की तरफ़ देखते हुए उत्तर दिया—"श्री चरणों के दर्शन करके सारा कष्ट भूल गया।"

पंडितजी—"तो अब क्या इच्छा है?"

एकनाथ—"भगवान् सब कुछ जानते हैं, अपने मुँह से क्या कहूँ?"

पंडितजी—"गुरुमन्त्र चाहते हो क्या?"

एकनाथ—"यह मेरे जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न है।"

पंडितजी—"मैं साधारण गृहस्थी हूँ, मुझसे तुम्हारा कल्याण क्या होगा? किसी परमहंस के पाँव क्यों नहीं पकड़ते? बेड़ा पार हो जाए।"

एकनाथ—"मैंने इस युग का सबसे बड़ा परमहंस पा लिया, अब और कहाँ जाऊँ? आप गृहस्थी हैं, परन्तु आपकी पदवी साधु-संन्यासियों से भी ऊँची है।"

पंडितजी—"यह तुम्हारी श्रद्धा है। मैं तो राजा का एक मामूली नौकर हूँ।"

एकनाथ—"मगर मेरे लिए तो आप राजाओं के भी राजा हैं।"

यह कहकर एकनाथ फिर झुका और पंडितजी के पाँव में लेट गया। पंडितजी निरुत्तर हो गये। विनय और श्रद्धा के सामने तर्क की पेश नहीं जाती। देवगढ़ के दीवान साहब एक साधारण ग्रामीण नवयुवक के सामने चुप थे और न जानते थे कि उसे कैसे समझाएं? कुछ सोचकर उन्होंने उसे उठाया और गम्भीरता से कहा—"हमें

गुरु-मन्त्र देने में आपत्ति नहीं, परन्तु पहले तुम्हें सिद्ध करना होगा कि तुम इसके अधिकारी हो। कहो परीक्षा के लिये तैयार हो?"

एकनाथ ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"जी हाँ! बड़ी खुशी से।"

यह कहकर उसने गुरु के पाँव तले से मिट्टी उठाई और माथे पर मल ली, मानो यह मिट्टी न थी, चन्दन का बुरादा था।

(३)

तीन वर्ष बीत गये। एकनाथ ने गुरुजी की सेवा में दिन-रात एक कर दिया। ऐसी लगन से किसी बिके हुए दास ने भी अपने स्वामी की सेवा न की होगी। वह उनके कपड़े धोता था, उनके लिये धान कूटता था, पानी भरता था, बाल-बच्चों को खिलाता था; और इतना ही नहीं उनके दफ्तर का सारा काम अपने हाथ से करता था। दीवान साहब अब हिसाब आदि बहुत कम देखते थे, सारा स्याह-सफ़ेद एकनाथ के हाथ में था। रियासत के लोग इसकी ईश्वरदत्त योग्यता और कार्य-पटुता देखकर वाह-वाह करते थे, यहाँ तक कि राजा भी उसकी प्रशंसा करता था। मगर एकनाथ को इस पर तनिक भी अभिमान न था। वह समझता था, गुरुजी परीक्षा ले रहे हैं। पास हो गया, तो जन्म-मरण के फन्दे से मुक्त हो जाऊँगा।

प्रातःकाल था, पंडितजी अपने मन्दिर में बैठे ईश्वर का भजन कर रहे थे और एकनाथ बाहर खड़ा था कि कोई विघ्न न डाल दे। इतने में घोड़ों के टापों का शब्द सुनाई दिया। एकनाथ डर गया। उसे भय हुआ कि कहीं इससे गुरुजी की समाधि न खुल जाए। उनका ध्यान टूट गया तो क्या जवाब दूँगा? वह जल्दी से बाहर निकला कि सवार को रोक दे। पर यह सवार कोई साधारण सवार न था। वह शाही सवार था, जो राजा का ख़ास परवाना लेकर आया था। एकनाथ ने

आगे बढ़कर कहा—"गुरुजी ईश्वर का भजन कर रहे हैं। नीचे उतर आओ।"

सवार घोड़े से नीचे उतर आया और जेब से एक मुहर वाला लिफ़ाफ़ा निकाल कर बोला—"यह शाही परवाना है। अभी दीवान साहब के पास पहुँचा दो।"

एकनाथ ने लिफ़ाफ़ा ले लिया और उत्तर दिया—"वह तो समाधि में हैं।"

सवार—"कोई बात नहीं। जाकर समाधि से उठा दो।"

एकनाथ—"यह असम्भव है (थोड़ी देर बाद) क्या बहुत ज़रूरी काम है?"

सवार—"अब मैं तुमसे क्या कहूँ? ज़रूरी है या नहीं। राजा साहब का हुक्म है। इसी समय पहुँचाओ। मैं पागल न था जो तुम पर ज़ोर देता।"

एकनाथ ने लिफ़ाफ़े को उलट-पलट कर देखा और कहा—"मगर ऐसी कौन-सी बात है, जो ज़रा भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते?"

सवार—"भैया! मेरा कर्तव्य आज्ञा पालन करना है। तुम जाकर सूचना देते हो या मैं खुद जाऊँ? हर हालत में यह परवाना अभी उनके पास पहुँच जाना चाहिये। ज़रा सी देर भी रियासत को बर्बाद कर देगी।"

एकनाथ—"मगर इस समय तो उनके पास कोई भी नहीं जा सकता, यहाँ तक कि स्वयं राजा साहिब आ जाएँ, तो उनको भी आगे न बढ़ने दूँ। ईश्वर के ध्यान में हैं।"

सवार ने कुछ सोचकर धीरे से कहा—"तो तुम्हें साफ़ ही कहना पड़ेगा। शहर पर किसी दुश्मन ने हमला किया है। राजा साहिब यह परवाना भेजकर अपने कर्त्तव्य से निवृत्त हो गए। शहर बचे या बर्बाद हो, उनकी बला से और किसी को इसकी फ़िक्र ही नहीं। ले-देकर एक दीवान साहब हैं, जिनको शहर की हिफ़ाज़त का ख्याल है, और

जिनके इशारे पर सिपाही मर मिटने को तैयार हैं। अब यह तुम खुद ही सोच लो कि उनको इस वक्त सूचना देना मुनासिब है या नहीं। मगर मैं इतना कहे देता हूँ कि उनको सूचना न हुई, तो दुश्मन क़िले की ईंट से ईंट बजा देगा।"

यह कहकर सवार चला गया, मगर उसके शब्द एकनाथ के कानों में उसी तरह से गूँज रहे थे। उसने परवाना गुरुजी के काग़ज़ों पर रख दिया और घुटनों पर सिर रखकर सोचने लगा कि क्या करना चाहिये? उठाऊँ या न उठाऊँ? ध्यान में हैं। जो राजाओं का भी राजा है, उसके दरबार में हैं। कहीं अप्रसन्न न हो जाएँ, क्रोध में न आ जाएँ। सब किये-कराये पर पानी फिर जाएगा। एक दिन कहते थे भगवान् अपने भक्तों का काम स्वयं कर देते हैं। कहेंगे यह बात तुझे कैसे भूल गई? लज्जित हो जाऊँगा, उत्तर न दे सकूँगा, उनके सामने सिर उठाने के योग्य न रहूँगा। तो ठीक है, मुझे चुप रहना चाहिये, देखूँ परमात्मा क्या करता है?

एकनाथ निश्चिंत हो गया और इधर-उधर टहलने लगा। मगर चिन्ता शहद की मक्खी के समान है। इसे जितना हटाओ उतना ही और चिमटती है। एकनाथ को फिर इसी चिन्ता ने आ घेरा। कहीं वैरी निकट न आ पहुँचा हो, राजा ने जब ही ज़रूरी परवाना भेजा है। ऐसा न हो, मैं यहाँ मन्दिर के द्वार पर बैठा रहूँ और गढ़ पर दुश्मन का अधिकार हो जाए। उस समय गुरुजी के मन की क्या अवस्था होगी? बहुत नाराज़ होंगे। कहेंगे, तुझे इतना भी विवेक नहीं कि समय कुसमय ही पहचान सके। हम समाधि में बैठे रहे, उधर शहर की सफ़ाई हो गई। इसका उत्तरदाता केवल तू है, जिसने ऐसी मूर्खता की। एकनाथ असमंजस में पड़ गया। कभी सोचता उठा देना चाहिए, इस समय यही धर्म है। कभी सोचता नहीं उठाना चाहिए, समाधि में हैं। यही दोनों तरफ़ देखता था, परन्तु उसे दोनों तरफ़ अन्धकार दिखाई देता था। प्रकाश कहीं भी न था। वह घबराहट की दशा में इधर-उधर

फिर रहा था। ऐसी दशा इसकी आज तक कभी न हुई थी। अपने चारों तरफ़ काले नागों को फुँकारें मारते देखकर भी उसका विवेक नष्ट न होता। मगर इस समय......।

वह बहुत व्याकुल था। उसके मस्तिष्क से पसीने की बूँदें टपक रही थीं। उसके मुँह का रंग एक-एक क्षण में बदलता था, जैसे वह उसके जीवन-मरण का प्रश्न हो। इस समय उसे कौन बचा सकता है? इस निराशा के भार से उसे कौन निकाल सकता है? सिवाय गुरुजी के और कोई नहीं। और गुरुजी......उसने उनकी ओर देखा। वह अभी तक आँखें बन्द किये ध्यान में बैठे थे। एकनाथ भूमि पर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोया, मगर इससे क्या होता था? समय बहुत तेज़ी से बढ़ा चला जाता था।

इतने में दुर्ग के बाहर दुश्मन की तोपें गर्जने लगीं। एकनाथ का पीला मुँह और भी पीला हो गया। अब सोचने का अवसर न था, काम करने का समय था। एक क्षण में इधर या उधर। एकनाथ ने अपने धड़कते हुए दिल पर हाथ रखा, अपनी तर्कशक्ति को एकत्रित किया, एक मिनट के लिए सिर झुकाया और निश्चय कर लिया।

थोड़ी देर के बाद वह गुरुजी की जंगी पोशाक पहने उनके जंगी घोड़े पर सवार था और देवगढ़ की वीर सेना उसके पीछे "हर हर महादेव" करती हुई दुर्ग से बाहर निकल रही थी। एकनाथ लड़ा और विजयी हुआ, और दुश्मन को भगाकर वापस आ गया। परन्तु उस समय यह किसी को भी पता न था कि यह एकनाथ है, पंतजी नहीं हैं। एकनाथ ने घोड़ा अश्वशाला में बाँध दिया, कवच उतार कर दीवार के साथ लटका दिया और अपने वसन्ती रंग के वस्त्र पहन कर चुपचाप अपने स्थानं पर बैठ गया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

(४)

थोड़ी देर बाद गुरुजी की समाधि खुली और वह बाहर निकले।

वहाँ हर एक के मुँह पर इसी घटना का बखान था। लोग कहते थे, आज दीवान साहब ने कमाल किया, उनकी तलवार ऐसी चलती थी जैसे कैंची कपड़े पर चलती है। दुश्मन कैसे घमंड से आया था, मानो देवगढ़ में सिपाही नहीं रहते, पशु-पत्ती रहते हैं। मगर दीवान साहब ने उनके दाँत खट्टे कर दिये, दीवान साहब को आश्चर्य हो रहा था कि यह कहते क्या हैं? कौन आया? किसने आक्रमण किया?. किसने दाँत खट्टे किये? इनको किसी भी बात का ज्ञान न था। आश्चर्य-चकित आगे बढ़े जाते थे कि एक स्थान पर कुछ आदमी बातें करते दिखाई दिए। दीवान साहब उनके पीछे खड़े होगए और सुनने लगे।

एक आदमी कह रहा था—"आज तो दीवान साहब की चुस्ती-चालाकी देखने योग्य थी।"

दूसरा—"हम उनसे छोटे हैं, परन्तु हमें वह जोश नाम को नहीं। अद्भुत आदमी हैं।"

तीसरा—"आदमी! वाह भाई वाह!! उन्हें आदमी कौन कहता है। वह तो कोई ऋषि हैं। पापी प्राणियों में यह शक्ति कहाँ! जवानी, बुढ़ापा सब उनके वश में हैं। चाहे बूढ़े बन जाएँ, चाहे जवान बन जाएँ।"

चौथा मुसलमान था, वह गम्भीरता से बोला—"ज़रूर-ज़रूर, बड़े बहादुर हैं। आज तो बिल्कुल नौजवान मालूम होते थे, वह बुढ़ापा कहीं नज़र न आता था।"

तीसरा—"और भैया! हम तो देख रहे थे। दुश्मन उनको देखते ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते थे, जैसे किसी ने मंत्र पढ़कर इनकी संज्ञा छीन ली हो।"

चौथा—"आँखों से आग बरसती थी। सिद्ध पुरुष महात्माओं के यही लक्षण हैं। जिसकी तरफ देख लें वही वश में हो जाता है। कुछ करना चाहे तब भी नहीं कर सकता।"

दूसरा—"और उनका घोड़ा कैसा उड़ता चला जाता था, यह

शायद आपने नहीं देखा।"

तीसरा—"खूब देखा, दो ही घण्टे में दुश्मन मैदान छोड़ भागा। किस घमण्ड से आया था, मानो विजय निश्चित है।"

चौथा—"अब कभी इस तरफ़ देखने का भी साहस न करेगा।"

पहला—"समझता होगा, बादशाह विलासप्रिय है, जाते ही विजय हो जाएगी, यह पता न था कि पंत जी का सामना है। कैसा भागा।"

दूसरा—"अच्छी शिक्षा मिली। आजीवन स्मरण रखेगा।"

पाँचवाँ—"परन्तु एक और बात भी सुनी है, सुनकर बुद्धि चकराती है। बड़ी अद्भुत बात है।"

पहला—"वह क्या?"

पाँचवाँ—"कुछ लोगों का कहना है, जब वह दुश्मन से लड़ रहे थे, उसी समय वह अपने मन्दिर में भी बैठे थे।"

दूसरा—"हाँ हाँ! सुना तो हमने भी है।"

तीसरा—"परन्तु एक ही समय में दो स्थानों पर! यहाँ भी, वहाँ भी! अचरज होता है।"

चौथा—"भाई, जिसकी पीठ पर परमेश्वर का हाथ हो, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं। भगवान् जो चाहे कर दे, उसका हाथ कौन पकड़ सकता है? वह चाहे तो तुम अभी आकाश में भी उड़ने लगो, हम मुँह देखते ही रह जाएं। प्रभु की लीला है।"

पाँचवाँ—"और क्या?"

पहला—"यह दीवान साहब नहीं हैं, नगर-रक्षक देवता हैं।" सहसा एक आदमी ने पीछे मुड़कर देखा और दूसरे को दिखाया। सब दंग रह गए। यह क्या? दीवान साहब चले जा रहे हैं। एक बोला—"लो यह भी देख लो। हम में से किसी का रूप धारण करके यहाँ खड़े थे, अब अपने रूप में जा रहे हैं। हमने तो पहले ही कह दिया था कि

यह महात्मा जो चाहें सो कर सकते हैं।"

अब दीवान साहब सब कुछ समझ गए। यह काम एकनाथ ही का है, किसी दूसरे का नहीं। उसी ने हमारे वस्त्र पहने और दुश्मन को हराकर लौट आया। यह बालक कितना वीर है! कितना समझदार!! राजा का परवाना आया होगा, हम समाधि में थे, हमें नहीं उठाया, स्वयं लड़ने चला गया। कोई मूर्ख होता तो कहता, शहर लुटता है तो लुटे, हमें क्या? बैठे गुरु की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। उन्होंने मन्दिर में पहुँचते ही एकनाथ को गले से लगा लिया और कहा—"तूने मेरी लाज रख ली।"

एकनाथ बार-बार उनके चरणों में गिरता था, कहता था—"आप मुझे लज्जित करते हैं। मैंने तो कुछ भी नहीं किया।"

पण्डितजी ने उसे स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा—"तुम्हारी वीरता की लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, मुझे यह पता न था कि तुम तलवार के भी धनी हो।"

एकनाथ—"यह सब आपकी कृपा है, वरना मेरी भुजाओं में ऐसा बल कभी न था।"

पण्डितजी—"लोगों को सन्देह भी न हुआ कि यह तुम हो, मैं नहीं हूँ।"

एकनाथ—"और वास्तव में यह आप ही का प्रताप है, नहीं मैं किस योग्य था? मुझे केवल इतना स्मरण है कि मैंने आपके वस्त्र पहने और घोड़े पर सवार हुआ। इसके बाद क्या हुआ, इसका मुझे ज़रा भी ज्ञान नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता था जैसे कोई दैवी शक्ति मुझे उड़ाये लिए जाती है, जैसे मैं अपने आपे में न था। अवश्यमेव आप ही की सत्ता मेरे शरीर में आ गई थी। अन्यथा यह विजय असम्भव थी। शरीर मेरा था, चेतना आपकी थी।"

पण्डितजी—"लोग अब तक यही समझते हैं कि यह मैं ही था।"

एकनाथ—"स्वयं मेरी भी यही धारणा है। आपने मुझे एकमात्र

अपना साधन बनाया था।"

इस श्रद्धा को देखकर पण्डितजी की आँखें सजल हो गईं। थोड़ी देर बाद बोले—"वत्स! अब मैं बूढ़ा हो गया। इस पन में यह राज्य-कार्य करना बड़ा कठिन है। मैं चाहता हूँ, अब चार दिन विश्राम करूँ। दीवान की पदवी तुम संभालो तो मुझे छुट्टी मिले। आज की घटना ने मेरी आँखें खोल दी हैं। मुझे विश्वास हो गया है कि यह काम तुम खूब संभालोगे। राजा साहब को भी आपत्ति न होगी। मेरा जाकर दो शब्द कह देना ही काफ़ी है, वे स्वीकार कर लेंगे। कहो तो अभी जाऊँ।"

एकनाथ की आँखों में आँसू आ गये। उसने दोनों हाथ बाँध लिये, जैसे कोई भूल हो गई हो। वह भूमि पर मुँह के बल गिर पड़ा और नम्रता से बोला—"मुझे कुछ नहीं चाहिये। केवल आपके चरणों में पड़ा रहूँ, मेरे लिए यही सब कुछ है।"

पण्डितजी एकनाथ का अभीष्ट समझ गये, परन्तु चुप रहे। अभी एक परीक्षा बाकी थी।

(५)

और कुछ ही दिनों बाद उसका समय भी आ गया।

प्रातःकाल था, एकनाथ पण्डितजी के स्नान के लिए पानी भर रहा था। इतने में पण्डितजी खड़ाऊँ पहने हुए आये और मुस्कराकर बोले—"बेटा एकनाथ! कल नव वर्षारम्भ है। इस वर्ष का हिसाब-किताब तैयार कर लो। समय थोड़ा है, केवल आज का दिन और आज की रात। परन्तु तुम्हारे जैसे योग्य आदमी के लिये यह कठिन नहीं।"

एकनाथ ने पानी का घड़ा हाथ से रख दिया।

पण्डित जी—"राजा साहिब कल हिसाब देखेंगे। तैयार हो जायेगा या नहीं? यदि न हो सके, तो मैं कर लूँ।"

एकनाथ—(धीरे से) "मैं कर लूँगा।"

पण्डितजी—"तो जाओ आरम्भ कर दो। समय बहुत कम है।"

एकनाथ दफ्तर में पहुँचा और हिसाब-किताब देखने लगा। काम साधारण न था, सारे वर्ष का हिसाब था। और वह भी किसी साहूकार का नहीं, एक रियासत का। परन्तु एकनाथ के दिल में ज़रा भी घबराहट न थी, न मुँह पर चिन्ता के चिह्न थे। उसने किताबों का ढेर सामने रख लिया और पालथी मारकर बैठ गया। सूरज आकाश में धीरे-धीरे ऊँचा उठा, और सिर पर पहुँच गया। मगर एकनाथ उसी तरह बैठा हिसाब देखता रहा। सन्ध्या हो गई, पर एकनाथ को पता भी न था। नौकर आकर शमादान जला गया, एकनाथ काम में लगा रहा। उसे खाने-पीने की सुध न थी, न सोने की इच्छा थी। ख्याल यह था, किसी प्रकार काम समाप्त हो जाए।

आधी रात बीत गई, एकनाथ ने सारा काम समाप्त कर लिया। सब कुछ ठीक था, केवल एक पैसे का फ़र्क़ था। एकनाथ के तेवर बदल गए। सोचने लगा; ज़रा-सी भूल ने सारा काम चौपट कर दिया। उसने रक़मों को दूसरी बार जमा किया। फिर वही फ़र्क़। फिर हिसाब किया। पर फ़र्क़ फिर भी न निकला। एक पैसे का अन्तर ज्यों-का-त्यों था। एकनाथ घबरा गया। रात आधी से भी अधिक जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था। लोग अपने-अपने घरों में सुख-चैन की नींद सो रहे थे, मगर एकनाथ शमादान के सामने बैठा था और सोचता था कि पैसे का फ़र्क़ कहाँ है?

पिछले पहर पण्डित जनार्दन की आँख खुली। खिड़की से देखा, दफ्तर में अभी तक प्रकाश है। समझ गए, एकनाथ जाग रहा है। वह धीरे से उठे और बाहर चले आए। दफ्तर के बाहर चौकीदार भी ऊँघ रहा था, केवल एकनाथ जागता था। पण्डितजी ने धीरे से कहा—"एकनाथ!"

मगर एकनाथ ने कोई उत्तर न दिया, अपना हिसाब करता रहा।

पण्डितजी ने फिर पुकारकर कहा—"एकनाथ !"

एकनाथ ने कुछ नहीं सुना।

पण्डितजी और आगे बढ़े, और ज़रा ऊँची आवाज़ से बोले—"एकनाथ !"

मगर फिर जवाब में वही सन्नाटा था, जैसे एकनाथ जागता न था, सोता था।

पण्डितजी को अचरज हुआ। वह और आगे बढ़े और शमादान के सामने इस प्रकार खड़े हो गए कि उनके शरीर की छाया पुस्तक पर पड़ती थी। मगर एकनाथ को अब भी मालूम न हुआ। उसके लिए पुस्तक के अक्षर उसी तरह साफ़ और रोशन थे। वह हिसाब में तन्मय हो रहा था। उसे दीन-दुनिया की सुध न थी। इसी तरह आध घण्टा बीत गया।

सहसा एकनाथ को अपनी भूल का पता लग गया। उसने खुशी से सिर हिलाया और हिसाब ठीक करके पुस्तकें बन्द कर दीं। इसके बाद उसने दोनों हाथ मिलाकर सिर से ऊपर उठाए और जंभाई लेने लगा। इतने में उसने चकित होकर देखा, पण्डित जी सामने खड़े हैं। वह घबराकर आगे बढ़ा और उनके पाँव में झुक गया।

पण्डितजी ने पूछा—"हिसाब-किताब हो गया ?"

एकनाथ—"जी हाँ, हो गया। आप कैसे आए ?"

पण्डितजी—"हम यहाँ बड़ी देर से खड़े हैं।"

एकनाथ चौंक पड़ा।

पण्डितजी—"हमने तुम्हें कई बार बुलाया, मगर क्या जानें तुम कहाँ थे ?"

एकनाथ—"मैंने एक भी आवाज़ नहीं सुनी।"

पण्डितजी—"हमारी छाया से पुस्तक पर अंधेरा हो गया, तुम्हें इसका ज्ञान न हुआ।"

एकनाथ—(हाथ बाँधकर) "अब क्या कहूँ, मुझे सन्देह तक न हुआ

कि कोई इस कमरे में खड़ा है। इस समय मेरी दुनिया केवल यह पुस्तक थी।"

पण्डितजी खड़े थे, बैठ गए और एकनाथ के मुँह की ओर देखकर बोले—"प्रातःकाल से इसी भांति बैठे थे क्या?"

एकनाथ—"जी हाँ, इसी भांति।"

पण्डितजी—"कुछ खाया-पिया भी नहीं?"

एकनाथ—"जी नहीं।"

पण्डितजी—"नींद भी नहीं आई?"

एकनाथ—"ज़रा भी नहीं!"

पण्डितजी—"इस समय क्या कर रहे थे?"

एकनाथ—"एक पैसे का फ़र्क़ पड़ता था, उसे निकाल रहा था। बड़ी कठिनाई से पता चला।"

पण्डितजी—"एक पैसे के लिये इतना परिश्रम क्यों किया? मामूली बात ।"

एकनाथ—"मैंने सोचा, आखिर भूल है। चाहे एक पैसे की हो, चाहे एक लाख की।"

पण्डितजी का चेहरा चमकने लगा। वह गम्भीरता से बोले—"वत्स! तूने मुझे प्रसन्न कर दिया। मेरी परीक्षा बड़ी कठिन थी। बड़े-बड़े साधु-सन्त भी कदाचित् इसमें सफलकाम न होते, परन्तु तू सब में उत्तीर्ण होगया। तूने काले कोसों की यात्रा की, और सिद्ध कर दिया कि तेरा हृदय श्रद्धा का सागर है। तूने सिद्ध किया कि तुझ में सेवा-भाव है। तूने युद्ध-क्षेत्र में विजय प्राप्त की, जो इस बात का प्रमाण है कि तू वीरात्मा है, और तुझे मृत्यु का भय नहीं। और फिर दीवान की पदवी को ठुकरा दिया। कोई लोभी ऐसे अवसर पर फूला न समाता। वह त्याग-भाव कितना पवित्र, कितना महान् है। परन्तु मैंने तुझे उस समय भी गुरु-मन्त्र न दिया, क्योंकि अभी एक परीक्षा बाकी थी। आज वह भी समाप्त हो गई। मैं देखना चाहता था कि तुझ में एकाग्रता है या नहीं,

जिसके बिना ईश्वर-भक्ति के मार्ग पर दो पग भी चलना असम्भव है। मैं आया, मैंने तुझे आवाज़ें दीं, मैंने तेरा प्रकाश रोक लिया, परन्तु तुझे मालूम भी न हुआ। यह एकाग्रता की पराकाष्ठा । अब मैं तुझे गुरु-मन्त्र देने को तैयार हूँ। मुझे तेरे जैसे शिष्य पर गर्व है।"

इस समय एकनाथ के चेहरे पर ऐसा तेज था, जो इस मर्त्यलोक में कभी-कभी दिखाई देता है। आज उसका वर्षों का परिश्रम सफल हुआ है, आज वह परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है। उसने वहीं भूमि पर गिरकर घुटने टेक दिये।

पण्डितजी ने फिर कहा—"और मुझे यह भी आशा है कि जिस प्रकार तूने आज एक पैसे की भूल के लिये अपना इतना समय खर्च किया है, उसी प्रकार भक्ति-मार्ग पर चलते हुए भी तू इस नियम को स्मरण रखेगा और छोटी से छोटी बुराई की भी अवहेलना न करेगा। अब जा आराम कर। कल मैं तुझे प्रकाश, पवित्रता और अमर जीवन के सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दूँगा।"

एकनाथ का चेहरा और भी चमकने लगा।

दिल्ली का अंतिम दीपक

(१)

जिन्होंने सन् १८८० में दिल्ली का चाँदनी चौक देखा है उन्होंने सुभागी का भाड़ अवश्य देखा होगा। आज वह भाड़ दिखाई नहीं देता, न सायंकाल उसका धुआँ आकाश की ओर जाता नज़र आता है। वह पूरबी स्त्रियों का समूह, वह ग़रीबों का जमाव, वह बच्चों का कोलाहल, जिस पर रसीले गीतों की मोहिनी निछावर की जा सकती है, यह सब अतीत काल की भूली हुई कहानी हो गई है। उसके स्थान पर अब एक शानदार दुकान खड़ी है, जहाँ अमीरों की गाड़ियाँ आ-कर रुकती हैं। कभी वहाँ सुभागी का भाड़ जलता था और ग़रीब लोग आकर अनाज भुनाते थे। सुभागी कुरूपा स्त्री थी, आयु भी चालीस वर्ष से कम न होगी। उसकी आवाज़ डरावनी थी। रात को एकान्त स्थान में दिखाई पड़ जाने से चुड़ैल का सन्देह होना स्वाभाविक था। मगर इस पर भी वह चाँदनी चौक में ऐसे आनन्द और सन्तोष का जीवन बिता रही थी जो राजमहलों में रानियों को भी प्राप्त न होगा। वह ग़रीब थी, उसके पास रुपया-पैसा न था, न बहुमूल्य वस्त्र थे। भाड़ झोंकने से केवल उतनी ही प्राप्ति होती थी, जितनी से शरीर और आत्मा का सम्बन्ध स्थिर रह सकता था। परन्तु उसके पास एक वस्तु ऐसी थी जो न राजमहलों में थी, न कुबेर के कोष में। उसके पास हृदय का

सन्तोष और शान्ति की नींद थी, जिसे न चोर चुरा सकता था, न राजा छीन सकता था। वह उन्नसवीं सदी में रहते हुए चौहदवीं सदी का जीवन व्यतीत कर रही थी। जैसे किसी के चारों तरफ़ आग काले नाग के समान अपना भयानक मुँह खोले लपक रही हो, मगर वह हरे वृक्षों से ढकी हुई नदी के किनारे बैठा उसकी लहरों से खेल रहा हो और उसे इस बात की कोई चिन्ता, कोई शंका न हो कि मेरे चारों तरफ़ आग भभक रही है। वह समझता है, यहाँ पानी है, इस पर आग का असर न होगा। इधर आयेगी तो आप ही बुझेगी, मेरा क्या बिगाड़ लेगी। यही दशा सुभागी की थी। उसने अपने जीवन के चालीस वर्ष इसी झोंपड़े में काटे थे। इसे देखकर उसका हृदय-मयूर नाचने लग जाता था। दिल्ली बदल गई, चाँदनी चौक बदल गया, मकान बदल गये। यहाँ तक कि दिल्ली की प्राचीन सभ्यता भी बदल गई, परन्तु सुभागी और उसके पास के भाड़ में कोई परिवर्तन न हुआ। यदि प्रकृति के नियम बदल जाते और धरती की कच्ची मिट्टी को निगले हुए मुर्दे उगलने की आज्ञा मिल जाती तो वे पहचान न सकते कि यह वही दिल्ली है। परन्तु सुभागी के भाड़ को देखकर वे अपनी समस्त शक्तियों से चिल्ला उठते कि यह वही दिल्ली है। सच पूछो तो यह सुभागी का भाड़ नहीं था, नवीन दिल्ली के शरीर में प्राचीन दिल्ली की आत्मा विराजमान थी। यह झोंपड़ा नहीं थी, दिल्ली के अन्धेरे प्रकाश में पुराने भारतवर्ष का दीपक जल रहा था। आज वह सादगी की जान, सन्तोष का नमूना, पुराने समय की अन्तिम यादगार कहाँ है? वे आत्म-सम्मान के भाव किधर चले गए? किस देश को? दिल्ली के बाज़ार इसका उत्तर नहीं देते। पहले मन्दिर गया था, अब दीपक भी दिखाई नहीं देता।

सुभागी का झोंपड़ा गगनभेदी अट्टालिकाओं के बीच इस तरह खड़ा था, जैसे अहंकार और अभिमान के बीच सच्चा आनन्द खड़ा मुस्करा रहा हो। सुभागी को किसी से डाह न थी, न ऊँचे

मकान देख उसका जी जलता। उसके लिए वह झोंपड़ा और वह भाड ही सब कुछ था। तीस वर्ष गुज़रे, जब उसका भड़भूँजा उसे ब्याह कर लाया था, तब से वह यहीं थी। मरते समय उसके पति ने कहा था, "मैं तुझे लेने आऊँगा।" बात साधारण थी, परन्तु सुभागी के दिल में बैठ गई। आज-कल की स्त्रियाँ शायद इस बात को निष्फल और निर्मूल कहकर भुला देतीं। मगर सुभागी पुराने समय की नीच(?) स्त्री थी। वह अपने प्रीतम की प्रतिज्ञा को कैसे भूल जाती! यह उसके पति का वचन था। सोचती थी—कौन जाने, किस समय आ जाए। उसकी आत्मा इस झोंपड़े को, इस भाड़ को ढूँढ़ेगी, मेरा नाम ले लेकर बुलाएगी। पुराने ज़माने का भड़भूँजा नई दिल्ली में घबरा जाएगा। समझेगा, "सुभागी ने प्रीति की रीति नहीं निबाही, प्रेम का दीया वायु के झोंकों ने बुझा दिया।" और यह वह विचार, वह भाव था, जिसके लिए सुभागी ने स्त्री होकर संसार के दुःखों का मर्दों के समान सामना किया। शरीर भद्दा था, परन्तु दिल कैसा सुन्दर, कैसा मनोहर था! लोहे की खान में सोने का डला छिपा था।

(२)

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गए, और बदल जाने वाली दुनिया में न बदलने वाली सुभागी उसी तरह अपने परदेशी पिया का रास्ता देखती रही। मगर उसे उसकी सुध न आई। यहाँ तक कि चाँदनी चौक के अमीर व्यापारियों की लोभी आँखें सुभागी के भाड़ की तरफ उठने लगीं। ऐसी चाह से कोई रसिया अपनी हृदयेश्वरी की तरफ़ भी न देखता होगा। सोचते थे, कैसा अच्छा मौक़ा है, यहाँ दुकान बने तो बाज़ार की शोभा बढ़ जाए। कई व्यापारियों ने यत्न किया, थैलियाँ लेकर सुभागी के पास पहुँचे, मगर सुभागी ने बेपरवाही से उनकी तरफ़ देखा और कहा—"यह ज़मीन न बेचूँगी। यहाँ मेरा स्वामी बिठा गया है। मुझे लेने आएगा तो कहाँ ढूँढ़ेगा। यह झोंपड़ा नहीं, तीर्थराज है।

इसे बेच दूँ तो मेरा भला किस जुग में होगा ?"

एक व्यापारी ने कहा—"सुभागी ! अब वह कभी न लौटेगा। तू यह आशा छोड़ दे।"

सुभागी ने उत्तर दिया—"परन्तु उसका वचन कैसे झूठा हो जायगा। उसके शब्द आज तक मेरे कानों में गूंज रहे हैं।"

एक और अदूरदर्शी ने कहा—"इस बुढ़ापे में इतना परिश्रम क्यों करती है ? झोंपड़ा बेच दे और भगवान् का भजन कर।"

सुभागी बोली—"झोंपड़ा गया तो भजन की सुध भी जाती रहेगी। जिसने पिया को भुला दिया, वह भगवान् को ख़ाक याद करेगी।"

एक मुँहफट ने कहा—"तू सठिया गई है। रुपये ले और चैन की बंसी बजा। अब सारी आयु छाती फाड़कर काम करने का क्या तूने ठेका ले लिया है ?"

सुभागी ने उत्तर दिया—"यह तो जन्म का काम है, मरने पर ही छूटेगा। चार दिन के सुख के लिये अपना घर कैसे बेच दूँ ?"

"मगर इसमें है क्या ?"

"मरने वाले की समाधि है। समाधि को किसी ने बेचा है ?"

"तू तो बावली हो गई है।"

"भगवान् इसी तरह उठा ले, यही प्रार्थना है। तुम अपनी रक़म अपने पास ही रहने दो। मेरे लिये यह झोंपड़ा ही सब कुछ है।"

"हम तुम्हें और मकान दे देंगे।"

"पराई वस्तु अपनी कैसे बन जायगी ?"

"उसमें सब तरह का आराम रहेगा। यह झोंपड़ा तो किसी काम-काज का नहीं है।"

"अपना बच्चा बदसूरत हो तो भी प्यारा लगता है।"

इसी प्रकार प्रलोभनों ने बीसियों आक्रमण किये, मगर सन्तोष के

सामने सब व्यर्थ गए, जिस तरह पानी की लहरें चट्टान से टकराकर पीछे हट जाती हैं।

(३)

सुभागी के त्रिया-हठ ने सबका उत्साह भंग कर दिया। उन्होंने समझ लिया कि बुड्ढी भाड़ न बेचेगी। मगर सेठ जानकीदास ने हिम्मत न हारी। उनकी दो दुकानें थीं और यह भाड़ उन दोनों के बीच में था। आस-पास फ़ानूस जलते थे, मध्य में दीया टिमटिमाता था। यह दीया सुभागी के लिए जीवन-ज्योति से कम न था। उसे देखकर उसका हृदय ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता था। मगर जानकीदास, उसे देखते तो उनकी आँखों में लहू उतर आता था। सोचते, यह जगह मिल जाए तो दुकानों का कलंक मिट जाए। हज़ारों जवान मरते हैं, इस बुढ़िया को मौत भी नहीं आती। मगर बुढ़िया से मिलते तो बहुत सत्कार का भाव दिखाते। तलवार पर मख़मल का ग़िलाफ़ चढ़ा हुआ था।

एक दिन की बात है, सुभागी वृक्षों के रूखे-सूखे पत्ते और टूटी-फूटी टहनियां चुनने गई। दोपहर का समय था, सूरज की किरणें चारों तरफ़ नाच रही थीं। सुभागी बेपरवाही से पत्ते और लकड़ियाँ बीन रही थी। एकाएक आकाश में काली घटा छा गई और ठण्डी-ठण्डी वायु चलने लगी। सुभागी ने एकत्र किए हुए पत्ते आदि कपड़े में बांधे और नगर की ओर चली। परन्तु तीन मील की दूरी कोई साधारण दूरी न थी। इस पर सुभागी क ' बूढ़ी टांगें! वर्षा ने बुढ़िया को घेर लिया। बादल बरसने लगे। मगर ये बादल न थे, सुभागी का दुर्भाग्य था। एक वृक्ष के नीचे खड़ी हो गई और सोचने लगी, सायंकाल को क्या करूंगी। ये पत्ते भी भीग गये तो भाड़ कैसे गर्म होगा। और भाड़ गर्म न हुआ तो खाऊँगी क्या? हाथ उठा-उठाकर प्रार्थना की कि तनिक वर्षा रुक जाय तो घर पहुँच जाऊँ। परन्तु बादलों ने सुभागी की न सुनी। वे

आकाश के वासी थे, पृथ्वी के बेटों की उन्हें क्या चिन्ता थी ! जलथल एक हो गया। उस दिन की वर्षा वर्षा न थी, भगवान् का कोप था। आठ घण्टे वह वर्षा हुई कि चारों तरफ कोलाहल मच गया। यमुना में बाढ़ आ गई। सहस्रों ग़रीबों के मकान गिर गये। गाय-बैल इस तरह बहे जाते थे, मानो घास-फूस के तिनके हैं। उनको बचाने वाला कोई न था। और यह पानी बाहर ही न था, दिल्ली के गली-कूचों में भी फुंकारें मारता फिरता था। जिनके मकान पक्के थे वे बेपरवाह थे, जिनके कच्चे थे उनका धीरज छूटा जाता था। और पानी कहता था, आज बरसकर फिर न बरसूंगा।

सुभागी एक वृक्ष पर बैठी हुई इधर-उधर देखती थी, और निराशा की ठण्डी सांसें भरती थी। उसके आस-पास पानी ही पानी था। दूर तक कोई मनुष्य दिखाई न देता था। उसके एकत्र किये हुए पत्ते किसी अभागे के स्वप्न के सदृश्य जल में विसर्जित होकर पता नहीं कहाँ चले गये थे। परन्तु सुभागी को उसकी चिन्ता न थी। उसके दिल में एक ही चिन्ता थी, एक ही इच्छा—किसी तरह अपने घर पहुँच जाऊँ। पता नहीं भाड़ का क्या हाल होगा। पानी तले डूब गया होगा। मिट्टी का ढेर रह गया होगा। यदि उसके बस में होता तो उसी समय वहाँ पहुँच जाती, पर पानी रास्ता रोके खड़ा था, सुभागी तड़पकर रह गई। उस समय उसने एक कबूतरी देखी, जो एक वृक्ष की डाल पर बैठी थी। सुभागी ने सोचा, अगर मैं कबूतरी होती तो उड़कर चली जाती, पानी मेरा क्या बिगाड़ लेता। इतने में कबूतरी ने पर खोले और उड़कर वह दृष्टि से ओझल होगई। यह देखकर सुभागी ने सोचा राम जाने यह कबूतरी कहाँ गई है; शायद मेरे झोंपड़े की ही तरफ गई हो। उसने चाहा कि मैं भी दौड़कर वहाँ चली जाऊँ। परन्तु झुककर देखा तो आधा वृक्ष अभी तक पानी के अन्दर था और मार्ग दिखाई न देता था। सुभागी की आखों से आँसुओं की दो गर्म बूँदें गिरीं, और वर्षा के ठण्डे जल में विलीन हो गईं।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुभागी वृक्ष से उतरी और शहर को चली। पानी बरसना बन्द हो चुका था, पर आसमान में बादल अभी बाकी थे। सुभागी का शरीर सर्दी से अकड़ा जाता था, आँखों से आग सी निकल रही थी, पाँव में शक्ति न थी। परन्तु वह फिर भी चल रही थी, जैसे सन्ध्या समय गऊ अपने भूखे बछड़े की तरफ भागती है। वहाँ पुत्र-स्नेह का आकर्षण होता है, यहाँ घर का मोह था। मिट्टी में भी मोहिनी है। मगर इसे देखने के लिये दिव्य-दृष्टि की आवश्यकता है। खाली आँख से वह दिखाई नहीं देती।

सुभागी चाँदनी चौक में पहुँची तब उसका दिल बैठ गया। अब न वह झोंपड़ा ही बाकी था, न भाड़। उनके स्थान में मिट्टी का एक ढेर और घास-फूस के तिनके पड़े थे, और इनके नीचे उसका साधारण माल-असबाब दब गया था। सुभागी के दिल पर जैसे किसी ने आग के अंगारे रख दिये, मगर उसने धीरज नहीं छोड़ा। थोड़ी देर के बाद लोगों ने देखा, तो वह झोंपड़ा खड़ा कर रही थी। दूसरे दिन भाड़ भी तैयार हो गया। सुभागी फूली न समाती थी, उसके पाँव पृथ्वी पर न पड़ते थे। उसने अपना उजड़ा हुआ घर बसा लिया था, जहाँ उसका पति उसे व्याह कर लाया था।

(४)

भाड़ बन गया, पर गर्म होना उसके प्रारब्ध में न लिखा था। सुभागी बीमार हो गई, उसे बुख़ार आने लगा। सेठ जानकीदास ने पूछा—सुभागी! तुझे यह क्या हो गया?

सुभागी—सेठजी! वर्षा की सरदी खा गई हूँ।

जानकीदास—और फिर दूसरी रात भी तो तू आराम से न बैठी। झोंपड़ा तैयार न होता तो कौन-सी प्रलय हो जाती।

सुभागी ने आश्चर्य की दृष्टि से सेठ साहब की ओर देखा और

पीड़ा से बेहाल होकर कहा—सिर छिपाने को भी तो स्थान न था, कहाँ ठोकरें खाती फिरती ?

जानकीदास—तू मेरे यहाँ चली आती तो क्या हर्ज था, मैं तो तेरा पड़ोसी हूँ।

सुभागी—इसकी तो तुमसे आशा ही है।

जानकीदास—सुभागी तू बनावट करती है। मेरी राय तो यह है कि मेरे यहाँ चली चल। वहाँ तेरी सेवा-सुश्रूषा होगी। बोल, क्या इरादा है ?

सुभागी के दिल में पहले तो ख्याल आया कि चली चलूँ, वृद्धावस्था में चार दिन आराम से कट जायेंगे। पर फिर झोंपड़े के मोह ने इरादा बदल दिया। साथ ही पति के अन्तिम शब्द भी स्मरण हो आए। आह भरकर बोली—सेठजी ! इस झोंपड़े से मैं न निकलूँगी, मेरी अर्थी निकलेगी।

जानकीदास—तो यह कहो ना, मरने की ठानी है।

सुभागी—अगर मौत ही भाग में लिखी है तो उसे कौन टाल सकता है ? परन्तु यह झोंपड़ा तो न छूटेगा।

जानकीदास कुछ देर चुप रहे। इसके बाद एकाएक उनके दिल में कोई सुरुचिकर विचार उत्पन्न हुआ, जैसे निराशा के अंधेरे में आशा की किरण दिखाई दे जाती है। धीरे से बोले—बहुत अच्छा ! पर मुझे इतनी तो आज्ञा दो कि तुम्हारी दवा-दारू और खाने-पीने का प्रबन्ध करा दूँ। नहीं तो मुझे तुमसे सदा के लिए शिकायत रहेगी।

सुभागी सीधी-साधी स्त्री थी। उसने नई सभ्यता के छल-कपट नहीं देखे थे। वह उस युग की स्त्री थी जब लोग झूठ बोलना पाप समझते थे। सेठ साहब की मीठी-मीठी बातों ने उसका दिल मोह लिया। उसने घास पर पड़े हुए सुन्दर फूल देखे, मगर उनके नीचे जो नाग छिपा था, उसकी तरफ उसका ध्यान न गया। उसने उपकार के भाव से थरथराती

हुई आवाज़ से कहा—भगवान् तुम्हारा भला करे। तुम आदमी नहीं देवता हो।

सुभागी का इलाज होने लगा। ऐसी लगन से किसी दयालु अमीर ने अपने प्रिय सम्बन्धी का भी इलाज न किया होगा। रात को कई-कई बार उठकर आते और सिरहाने खड़े रहते। रुपया-पैसा तो पानी के समान बहा दिया। उन्हें उसकी परवा न थी। उनका ख्याल था कि किसी तरह बुढ़िया बच जाए तो भाड़ की जगह आप से आप दे देगी और जो न देगी तो कहूँगा मेरा रुपया चुका दे। ग़रीब भड़भूँजन है, इतना रुपया कहाँ से लाएगी।

छः महीने के बाद सुभागी चारपाई से उठी, तो उसका बाल-बाल सेठ साहब का ऋणी था। उनका धन उसके झोंपड़े को न खरीद सकता था, सहानुभूति ने उसे भी खरीद लिया। अब सुभागी पहली सुभागी न थी, बेपरवा, प्रसन्न-वदन, शांत-स्वभाव। अब उसकी जगह एक खरीदी हुई दासी रह गई थी, जिसके चेहरे पर कभी-कभी स्वाधीन सुभागी की स्वच्छ कान्ति दिखाई दे जाती थी। एक दिन वह था, जब सुभागी सेठ जानकीदास के आगे से ऐंठकर निकल जाती थी, परन्तु आज उनके सामने उसकी आंखें न उठती थीं। जिस काम को सख्ती न कर सकती थी उसे नर्मी ने कर दिया। सुभागी सेठ साहब के पांव से लिपट गई और रोने लगी, परन्तु सेठ साहब ने उसे इस तरह उठा लिया, जैसे वह उनकी अपनी माँ हो।

कुछ दिनों के बाद चांदनी चौक के व्यापारियों ने सुना कि सुभागी ने अपना झोंपड़ा सेठ साहब के हाथ बेच दिया है। यह ख़बर मामूली न थी, लोग चौंक पड़े। उनको इस पर विश्वास न होता था। सिर हिलाकर कहते, यह भी सेठ साहब की चाल है, बुढ़िया जीते जी झोंपड़ा न छोड़ेगी। कोई कहता, सेवा की थी, मेवा पा लिया। कोई कहता, यह अनहोनी बात है, किसी ने यों ही उड़ा दी है। लेकिन जब झोंपड़ा उखाड़ कर फैंक दिया गया और खुदाई का काम आरम्भ हो गया तब

सबको विश्वास हो गया। सेठ साहब ने बाज़ी मार ली।

(५)

सुभागी सीधी-सादी जरूर थी, पर मूर्ख नहीं थी। सेठ साहब की बात-चीत से उसे कुछ-कुछ सन्देह होने लगा। मगर कभी-कभी यह भी ख्याल आता कि कहीं मैं भूल तो नहीं कर रही हूँ। सुभागी असमंजस में पड़ गई। उसने आज तक किसी के सामने हाथ न पसारा था, न किसी के आगे आँखें झुकाई थीं। ग़रीब होकर वह अमीरों की सी शान बनाए रहती थी। इस बीमारी ने उसका मान-धन लुटा दिया। उसका जीवन बच गया, पर जीवन-ज्योति जाती रही। वह अपनी दृष्टि में आप गिर गई। अब चांदनी चौक में उसके लिए आत्माभिमान की चाल चलनी कठिन थी। उसका हृदय कहता था, इस कलंक ने मुझे कहीं मुँह दिखाने के योग्य नहीं रखा। कुछ दिन इसी तरह गुज़रे। मगर हर रोज़ सन्ध्या के समय उसे ऐसा अनुभव होता, मानो उसके हृदय का अन्धेरा, कन्धों का बोझा, जीवन का जञ्जाल बढ़ता चला जा रहा है, जैसे ऋणी का ऋण दिन-प्रति-दिन ज़्यादा होता जाता है। सोच-सोचकर उसने यही निश्चय किया कि सेठ साहब का ऋण टहल-सेवा करके चुका दूँ, नहीं तो चित्त को शान्ति न मिलेगी। यह सोचकर उसने एक दिन सेठ साहब से कहा—सेठ साहब ! तुमने बड़ी कृपा की है। मेरा रोम-रोम तुम्हें आशीर्वाद दे रहा है। मुझ में यह उपकार उतारने का साहस नहीं। एक ग़रीब मजदूरनी क्या करेगी। पर मुझे मालूम तो हो कि मेरी बीमारी पर कितना खर्च हुआ है। धीरे-धीरे उतार दूँगी।

सेठ साहब का कलेजा धड़कने लगा। जिस क्षण की बाट जोहते थे वह आ गया। बही से हिसाब देखकर बोले—साढ़े चार सौ।

"साढ़े चार सौ ?" सुभागी का चेहरा कानों तक लाल हो गया। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो ज़मीन-आसमान घूम रहे हैं। कुछ देर चुपचाप खड़ी सोचती रही। इसके बाद आह भरकर बोली—साढ़े चार

स ! इतनी रक़म मेरी बीमारी पर उठ गई !

जानकीदास ने सिर नीचे डाल लिया और कहा—रोज़ डाक्टर आता था।

सुभागी हतबुद्धि-सी खड़ी रह गई। क्या कहे, क्या न कहे, कुछ निश्चय न हो सका। जैसे भूले हुए मुसाफ़िर को रात के अन्धेरे में रास्ता नहीं मिलता तो हारकर बैठ जाता है, वैसे ही सुभागी ने कर्त्तव्य-विमूढ़ होकर उत्तर दिया—यह ऋण मुझ से तो न उतरेगा।

जब हमें कोई सख्त बात कहनी होती है तब ज़बान के नर्म बन जाते हैं। सेठ साहब ने अत्यन्त कोमल स्वर में कहा—झोंपड़ा बेच दो। ऋण उतर जाएगा। सेठ साहब जानते थे कि सुभागी के कौन बैठा है जो उसकी मौत के बाद झोंपड़े पर अधिकार जमाने आएगा। इस समय वे अधीर हो रहे थे, जैसे नादान लड़का बुड्ढे पिता की मौत से पहले ही उसकी सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है।

सुभागी की आँखें खुल गईं। जहाँ फूल थे, वहाँ नाग दिखाई दिया। अब कोई सन्देह न था। सुभागी की आंखों में शील था। यह पिशाच-काण्ड देखकर वह दूर हो गया, तेज़ होकर बोली—जबान सम्भाल कर बोल। झोंपड़े की तरफ़ देखा भी तो आँखें निकाल लूँगी।

सेठ साहब हँसे। इस हँसी में वे निर्दयता के भाव छिपे थे जो क़साइयों के दिल में भी न होंगे। फिर ज़रा ठहर कर बोले—तो सुभागी! मेरी रक़म लौटा दो। मैं तुम्हारा झोंपड़ा नहीं मांगता।

सुभागी ने अभिमान से सिर उठाया और एक-एक शब्द पर ज़ोर देकर बोली—"अगर सच्चे भड़भूंजे की बेटी होऊँगी तो तुम्हारी कौड़ी-कौड़ी चुका दूँगी। पर यह झोंपड़ा तुम्हारे हाथ कभी न बेचूंगी।"

जानकीदास—बहुत अच्छी बात है। मैं भी देखता हूँ कि कौन तुम्हें थैलियाँ खोले देता है।

सुभागी—मेरा भगवान् मर नहीं गया है।

जानकीदास—अगर तुम्हारा झोंपड़ा बच जाए तो मुझे कम खुशी

न होगी। मुझे तो अपनी रक़म चाहिए।

सुभागी—मुझे पता न था कि तुम्हारे दिल में कपट भरा है।

जानकीदास—कलयुग का ज़माना है। अब नेकी करना भी पाप हो गया है।

सुभागी—पर तुमसे नेकी करने को कहा किसने था?

जानकीदास—भूल हो गई, क्षमा कर दो। फिर ऐसा न होगा।

सुभागी—मैं समझती थी, नेक आदमी है! पर आज आँखों से पर्दा हट गया।

जानकीदास—यही ग़नीमत है।

सुभागी—तुम्हें झोंपड़ा न मिलेगा। समझते होगे दोनों दुकानें मिलाकर महल खड़ा कर लूँगा। इससे मुँह धो रखो।

अब जानकीदास को भी क्रोध आगया, तेज़ होकर बोले—देखता हूँ, कौन माई का लाल मुझे रोकता है। एक महीने के अन्दर-अन्दर इस झोंपड़े का नाम-निशान तक न रहेगा।

जिसका हाथ नहीं चलता उसकी ज़बान बहुत चलती है। सुभागी ने जो कुछ जी में आया कहा और अपने झोंपड़े में जाकर रोने लगी। कभी अपने भाग्य को देखती, कभी झोंपड़े की कच्ची दीवारों को, और फूट-फूट कर रोती, जैसे लड़की ससुराल जाते समय रोती है। उस समय उसके हृदय में कितना दुःख होता है, सीने पर कितना बोझ! उसे दुनिया की कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती। यही अवस्था सुभागी की थी। झोंपड़े की एक-एक वस्तु देखकर उसका दिल लहू के आँसू बहाता था इसी उधेड़बुन में तीन-चार दिन गुज़र गये।

चौथे दिन एक आदमी शम्भूनाथ ने आकर पूछा—सुभागी! अब तेरा क्या हाल है? तूने बड़ा कष्ट पाया।

सुभागी—भगवान् की दया है।

शम्भूनाथ—सुना है, सेठ जानकीदास ने तेरे लिये बहुत ख़र्च किया?

सुभागी—भैया ! उस पापी का नाम न लो।

शम्भूनाथ—शहर में तो बड़ा जस हो रहा है। कहते हैं कि उसने सुभागी को बचा लिया। आदमी काहे को है, देवता है।

सुभागी—मेरा बस चले तो मैं उसका मुँह नोच लूँ।

शम्भूनाथ—असली बात क्या है ?

सुभागी—ऐसा हत्यारा सारी दिल्ली में न होगा। साठ-सत्तर रुपये ख़र्च करके कहता है, साढ़े चार सौ उठ गये। मैंने सोचा था, सारी आयु सेवा करती रहूँगी। पर उसकी आँख तो झोंपड़े पर है। कहता है या रुपये दे या झोंपड़ा बेच। देखो तो कैसा अन्धेर है। इतना भी नहीं सोचता कि मेरे कौन बाल-बच्चे हैं, मरूँगी तो झोंपड़ा उसीको दे जाऊँगी। पर अब तो मेरा जी खट्टा हो गया है।

शम्भूनाथ—राम राम ! कलयुग का ज़माना है। ऐसा हमने कभी नहीं सुना था।

सुभागी—भैया ! यह झोंपड़ा तो उसे कभी न दूँगी।

शम्भूनाथ ने सहानुभूति से कहा—मगर क्या करोगी। वह तो नालिश कर देगा।

सुभागी निरुत्तर हो गई। इस बात का कोई जवाब न था। आँखें सजल हो गईं, जो बेबसी की अन्तिम सीमा है। एकाएक उसने सिर उठाया और धीरे से कहा—तुम्हीं न ख़रीद लो। मैं तुम्हारे हाथ आज ही बेच दूँगी।

शम्भूनाथ उछल पड़ा—सुभागी तुमने खूब सोचा।

सुभागी—दाँत खट्टे हो जायेंगे सेठ साहब के। मुँह देखते रह जायेंगे।

शम्भूनाथ—पता नहीं, संसार इतने पाप क्यों करता है ?

सुभागी—धरती साथ तो चली न जायेगी।

उसके बाद खरीद-फ़रोख्त की बात-चीत होने लगी। आठ सौ रुपये पर मामला हो गया। सुभागी के सीने से बोझ-सा हट गया, मगर फिर चित्त पर उदासीनता सी छा गई, जैसे कोई व्यापारी अपने

सौदे में कमाकर फिर किसी चिन्ता में निमग्न हो जाता है; और इस चिन्ता में उसकी खुशी जुगनू की चमक के समान आँखों से ओझल हो जाती है।

रात इन्हीं चिन्ताओं में गुज़र गई। दूसरे दिन वह कचहरी में थी और कचहरी का आदमी उससे कह रहा था—बुढ़िया! यहाँ अंगूठा लगा दे।

(६)

सुभागी ने ये शब्द सुने, मगर ठीक ऐसे, जैसे कोई स्वप्न में दूर की आवाज़ सुनता है और उसका तात्पर्य कुछ समझता है, कुछ नहीं समझता। उसने असावधानी से अंगूठा आगे कर दिया। कचहरी के आदमी ने उस पर स्याही पोत दी और उसे पकड़कर उसका निशान काग़ज़ पर लगा दिया। उसे क्या ख़बर थी कि यह स्याही मैंने काग़ज़ पर नहीं फेरी, अपने भविष्य की शान्ति और चित्त के सन्तोष पर फेर दी है। शम्भूनाथ ने आठ सौ रुपये गिनकर उसकी झोली में डाल दिये, सुभागी की आँखें चमकने लगीं। यह चमक दीपक की लौ थी, जो बुझने से पहले एक बार हँसती है और फिर सदा के लिए अंधेरे में लीन हो जाती है। कचहरी के बाहर आकर सुभागी को ख्याल आया कि मैंने यह क्या कर डाला। इतने रुपये यदि उसे पहले मिल जाते तो अपने झोंपड़े में जाकर शायद सौ बार गिनती और तब उन्हें कहीं दबा देती। पर अब कहाँ जाए? उसने बहुत सोचा, चारों तरफ़ देखा, परन्तु कोई स्थान दिखाई न दिया। लम्बी-चौड़ी दुनिया में वह अकेली थी। उसका कोई न था। उसके पास रुपये थे, सेठ साहब का ऋण चुकाकर भी उसके पास साढ़े तीन सौ बच जाते। लेकिन उसके पास रुपये रखने को जगह न थी। अन्धी-बहरी दुनिया में कौन उसका हाथ थामेगा, किस छत के तले जाकर वह विश्राम करेगी। इधर-उधर सब आदमी थे, किन्तु सब पराये थे, उसका अपना कोई न था। एक झोंपड़ा था सारी आयु का मूनिस-

ग़मख्वार। सुभागी ने उसमें आधी जवानी और आधे बुढ़ापे के दिन गुज़ारे थे। छोटे-छोटे बच्चे, ग़रीब स्त्रियाँ, मज़दूर, ये सब आकर उससे अनाज भुनवाते थे। वह इन्हें अपना आत्मीय समझती थी। आज सब बिछुड़ गए। आज उसके घर का द्वार उसके लिए बन्द हो गया। बेचारी कहाँ जाए? किधर? लोग कचहरी से निकलते तो तेज़ी से शहर की ओर जाते। उनके घर होंगे। पर सुभागी का घर कहाँ है? उसके पास राजसी महल न था, शानदार भवन न था, था एक फूस का झोंपड़ा और कच्चा भाड़। बेदर्दों ने वह भी छीन लिया। सुभागी रोने लगी। उसके हृदय-बेधी शब्दों ने राह जाते मुसाफिरों के पांव पकड़ लिए, किन्तु वह कुछ कर नहीं सकते थे।

सन्ध्या-समय था। सुभागी सेठ जानकीदास की दुकान पर पहुँची और डरते डरते एक तरफ़ खड़ी हो गई, जैसे कोई फ़कीरनी हो। अब उसमें वह उत्साह, वह साहस न था, जिसकी सारी दिल्ली में धूम मची हुई थी। उस समय वह घर की मालकिन थी, अब बेघर थी, जिसका सारे संसार में कोई न था। सेठ साहब ने उसे देखा तो आँखों में पानी छलकने लगा। अहंकार के लाखों शत्रु हैं, नम्रता का एक भी नहीं। लोग भेड़ मारने को बन्दूक लेकर नहीं निकलते। अब सेठ साहब को किस पर क्रोध आता? एक बेघर की भिखारिन पर? वे लोभी थे, पर ऐसे पतित, इतने अधम न थे। बोले—सुभागी!

सुभागी ने झोली सेठ साहब के पाँव पर उलट दी और कहा—ये लो, तुम्हारे रुपये हैं। संभाल लो। तुमने साढ़े चार सौ कहा था, यह आठ सौ हैं। बाकी ब्याज समझ लो।

कितना भारी अन्तर है! सेठ साहब अमीर थे, साढ़े चार सौ न बख्श सके। सुभागी ग़रीब थी, साढ़े तीन सौ ऐसे फैंक दिये, जैसे वे रुपये न थे, मिट्टी के ढेले थे। सेठ साहब को अपने पतन का अनुभव हुआ तो लज्जा ने मुँह लाल कर दिया। वे आगे बढ़े कि सुभागी के पाँव पर गिरकर क्षमा के लिए प्रार्थना करें। उन्हें आज पहली बार ज्ञान

हुआ कि इस बुड्ढी के हृदय में घर का ऐसा प्यार, इतना मोह भरा है। परन्तु सुभागी वहाँ न थी। हाँ, उसके रुपये दुकान के फ़र्श पर बिखरे पड़े थे। ये रुपये न थे, सुभागी के दिल के टुकड़े थे, लहू में सने हुए। सेठ साहब पर घड़ों पानी पड़ गया।

आध रात को सुभागी अपने झोंपड़े में पहुँची, पर इस तरह जैसे कोई चोर हो। वह फूँक-फूँक कर पाँव धरती थी। कोई सुन न ले, कोई देख न ले। कभी वह इस झोंपड़े की रानी थी, आज परदेसिन। आज उसका इस पर कोई स्वत्व, कोई अधिकार न था। उसने दीया जलाया सब कुछ वहीं पड़ा था, उसी तरह। एक पीतल की थाली; एक लोटा, दो कटोरियाँ, एक टूटी-फूटी चारपाई, बस यही सब उसकी जायदाद थी। आज वह उससे विदा होने आई है। वह नये ज़माने की स्त्रियों में से न थी, जो अपना घर छोड़ते समय एक आँसू भी नहीं बहातीं, न उनके दिल पर ऐसे दुःखोत्पादक दृश्य का कोई प्रभाव पड़ता है। वह पुराने युग की अनपढ़ और असभ्य स्त्री थी, जिसके लिये घर छोड़ना और शरीर छोड़ना दोनों बराबर थे। वह अपनी चीज़ों से लिपट लिपटकर रोई, मानो वे निर्जीव वस्तुएँ न थीं, उसकी जीती-जागती सखियाँ थीं। इस समय सुभागी का हृदय रो रहा था। प्रातःकाल लोगों ने देखा, सब कुछ वहीं पड़ा है। केवल सुभागी का पता नहीं। घर मौजूद था, घर वाली न थी। सेठ साहब ने बहुत खोज की। झोंपड़ा शम्भूनाथ ने नहीं ख़रीदा था, उसकी मार्फ़त खुद सेठ साहब ने खरीदा था। इसके लिए न्होंने कई साल यत्न किया, उसकी जगह उसी को लौटा दें। अब यह झोंपड़ा उन्हें अपनी दुकानों का कलंक मालूम होता था। उन्होंने सुभागी की खोज की पर उसका पता न मिला, यहाँ तक कि सेठ साहब निराश हो गये।

(७)

मगर सुभागी कहाँ थी ! दिल्ली से बाहर, जमुना के किनारे, जंगल

में। कैसी आन वाली स्त्री थी! जहाँ घर की मालकिन बनकर कई साल गुज़ारे थे, वहाँ बेघर होकर एक दिन भी न गुज़ार सकी और उसी रात जंगल में भाग गई। उसे शहर से घृणा हो गई थी। वह चाहती थी ऐसे स्थान में जा रहे, जहाँ किसी परिचित का मुँह भी दिखाई न दे। वह मनुष्य की छाया से भी दूर भागती थी। उसका दिल टूट गया था। अब उसके कान आदमी की आवाज़ के भूखे न थे, न उसके लिए जगत् में आशा का मोहन गीत बाक़ी था। वह भूखी-प्यासी पागलों के समान चली जा रही थी। पता नहीं, कहाँ? शायद वहाँ, जहाँ मनुष्य-समाज की सहानुभूति और आशा-किरण का जादू न हो। वह अब ऐसा स्थल ढूँढ़ती थी, जहाँ कोई प्रसन्नता, कोई अभिलाषा, कोई मोहनी न हो। रात के अँधेरे में पत्थरों से टकराती, झाड़ियों से उलझती, गड्ढों में गिरती-पड़ती, ऊँच-नीच फाँदती सुभागी इस प्रकार चली जाती थी, जिस प्रकार उड़ते हुये पक्षी की छाया चली जाती है और इसे कोई रोक नहीं सकता। किसी दूसरे समय वह इस जंगल में आकर काँप उठती, पर इस समय उसे जंगल से ज़रा भी भय न था। दुःख और निराशा में भय भी नहीं रहता; और जो अँधेरा उसके हृदय में समाया हुआ था उसके सामने बाहर का अँधेरा तुच्छ था। वह मनुष्य और मनुष्य के विचार दोनों से दूर भाग रही थी। जंगल के हिंस्र जीव-जन्तु उसे आदमी से कहीं अधिक दयावान्, शीलवान् और उच्च मालूम होते थे। सोचती, ये झूठ नहीं बोलते, धोखा नहीं देते, बगल में छुरी दबाकर मुँह से मीठी-मीठी बातें नहीं करते। इन्हें चापलूसी करना नहीं आता। ये मनुष्य से हज़ार गुना अच्छे हैं। मनुष्य से इनकी तुलना करना इनका घोर अपमान करना है।

इसी तरह सोचती और मनुष्य-समाज और आधुनिक सभ्यता को कोसती हुई सुभागी जंगल के अँधेरे में बढ़ती चली जाती थी कि भूख-प्यास और सर्दी ने उसके पाँव पकड़ लिए, और वह एक पत्थर पर बैठकर

रोने लगी। रात का समय था। जंगल में अन्धकार छाया हुआ था। आदमी का पुतला तक दिखाई न देता था। सुभागी अपने भाड़ का स्मरण कर रोती थी, पर उसके आँसुओं को देखने वाला सिवा आसमान के तारों के और कोई न था।

यहाँ सुभागी को पुराने ज़माने की एक कुटिया मिल गई। इसमें उसने एक महीना काटा। वृक्षों के फल खाती, जमुना का पानी पीती और रात को घास पर लेट रहती। यहाँ उसको कोई कष्ट न था, न खाने-पीने के लिए मज़दूरी करनी पड़ती थी। किन्तु घर का मोह यहाँ भी न गया। यह मिट्टी की जंज़ीर जीते जी किसी के पाँव से कब उतरी है? विवश होकर एक दिन उसने कुटिया को छोड़ दिया और दिल्ली को लौट पड़ी। इस समय उसके पाँव पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे। मगर शहर के समीप आकर उसका दिल बैठ गया। कहाँ जाऊँगी? इस शहर में अब मेरा कौन है? लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे? सोच-सोचकर निश्चय किया कि रात को जाऊँगी, जिसमें कोई देखने न पाए। पर रात बहुत देर में आई। हतभागों से समय की भी शत्रुता है!

सुभागी अपने झोंपड़े के पास पहुँची तो उस पर बिजली-सी गिर पड़ी। वहाँ झोंपड़ा न था, न उसका भाड़ दिखाई देता था। ज़मीन खुदी हुई थी, छोटी-छोटी दीवारें खड़ी थीं। यह इमारत न थी, उसके सुखों की समाधि थी। सुभागी ने एक चीख़ मारी और वहीं बैठ गई। किन किन आशाओं से आई थी, सब पर पानी फिर गया। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो चाँदनी चौक की सारी रोशनी बुझ गई है और आसमान के तमाम तारों ने अँधेरे की चादर में मुँह छिपा लिया है। एका-एक उसे ख़याल हुआ कि मेरा पति मुझे लेने आएगा तो कहाँ ढूँढ़ेगा?

दूसरे दिन इस दुकान के दरवाज़े पर उसका मृत शरीर पड़ा था। उसका वचन झूठा न निकला। उसने दुनिया छोड़ दी, पर अपना झोंपड़ा न छोड़ा। आज वह सुभागी कहाँ चली गई? किधर? किस देश

को ? वहीं, जहाँ उसका पति, उसका भाड़, उसका झोंपड़ा जा चुका था। था। वह पुराने युग की स्त्री थी, अपने घर के बिना अकेली कैसे रहती ? नई दिल्ली में पुरानी दिल्ली का अंतिम दीया जल रहा था, वह भी बुझ गया।

सेठ जानकीदास कई दिन तक घर से बाहर नहीं निकले।

बचपन की एक घटना

अफ़सोस ! बचपन के वह हरे-भरे बाग़-बग़ीचे कहाँ चले गए ? वह जीवन, वह उल्लास, वह निश्चिन्तता, वह खेल-कूद का सुहावना समय आज भी याद आता है तो दिल को ठेस-सी लगती है। कैसा अद्भुत ज़माना था जो इतनी जल्दी बीत गया ! कभी-कभी ऐसा मालूम होता है, जैसे अभी कल की ही बात है। इतने वर्ष गुज़र गए, दुनिया कहीं से कहीं जा पहुँची; मगर वह हाथ न आने वाला समय अभी तक बायस्कोप की तसवीरों के समान आँखों के सामने फिर रहा है। वह मैला बस्ता, वह स्याही के दागों से भरी हुई मोटे-मोटे अक्षरों वाली कापियाँ, वह शीशे की रंगदार गोलियाँ, वह बचपन के मित्र—क्या ऐसी चीज़ें हैं, जो कभी भूली जायें। उन दिनों एक पैसा लेकर जो खुशी होती थी वह आज सैकड़ों और हज़ारों रुपये लेकर भी नहीं होती। उन दिनों रबड़ की एक साधारण गेंद में जो आनन्द था, आज वह बड़े ओहदे में भी दिखाई नहीं देता। वे आँखें ही नहीं रहीं।

हम दो भाई थे, मैं और विष्णु। एक बहन थी। मैं उन सब में छोटा था, इसलिए माता-पिता मुझे सबसे ज्यादा प्यार करते थे। और मेरी माँ तो मुझे बहुत ही चाहती थी। असम्भव था कि मैं कोई चीज़ माँगूँ और मुझे वह न मिले। घर में फल या मिठाई आती तो सबसे ज्यादा हिस्सा मुझे मिलता। नए कपड़े सिलवाते समय भी सबसे ज्यादा

कपड़े मेरे लिए बनते थे। यह पक्षपात मेरे बहन-भाई के लिए असह्य था। वे कभी-कभी इस पर झुँझला भी उठते थे, कभी-कभी रूठ भी जाते थे, परन्तु मेरा इससे कुछ बिगड़ता न था। माँ सदा मेरा पक्ष लेती थी। हाय शोक! वह प्यार-मुहब्बत की जीती-जागती मूर्ति आज इस नश्वर संसार में कहीं दिखाई नहीं देती, परन्तु उसका रानियों की तरह मुस्कराता हुआ वह गोल पवित्र प्यारा चेहरा आज भी मेरे हृदय-पटल पर उसी तरह अंकित है। पिता जी शिमले में नौकर थे। इसलिए, वह प्रायः वहीं रहते थे, परन्तु माँ का स्नेह-अमृत बाप के प्रेम-अभाव की पूर्ति कर देता था। आज मालूम होता है, माँ दुनिया में कैसी प्यारी, कैसी मीठी चीज़ है!

मुझे वह दिन कल की तरह याद है, जब माँ किसी काम से बाहर गई और मेरे रोने-चिल्लाने पर भी मुझे बहन के पास छोड़ गई। यह पहला अवसर था जब माँ ने मेरे साथ ऐसा अन्याय किया। चलते समय जब उसने मेरे सिर पर हाथ फेरने के लिए मुझे पुचकार कर अपने पास बुलाया तो मैं आँखों में आँसू भर कर एक कोने में चला गया और क्रोध से बोला—"अब हम तुमसे कभी न बोलेंगे। वापस आओगी, जब भी न बोलेंगे।"

माँ के चेहरे पर मुस्कराहट आ गई। उसने मेरी ओर प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखा और बहन को मेरे लिए चार पैसे देकर चली गई। मैं वहीं खड़ा रहा। जब तक वह नज़र आती रही, मैं चुपचाप उसकी तरफ़ घूर-घूर कर देखता रहा। परन्तु उसके घर से बाहर निकलते ही मैं अधीर हो गया और चीख़ मारकर दरवाज़े की तरफ़ दौड़ा, जैसे बछड़ा गाय की तरफ़ लपकता है। बहन ने मेरे हाथ पकड़ लिए। मैंने उससे हाथ छुड़ाने का बहुत यत्न किया, उसका मुँह नोच लिया, उसके हाथ काट खाए; मगर उसने न छोड़ा, मैं सटपटा कर रह गया। माँ चली गई।

मैं उदास रहने लगा। उस समय मेरी उमर बारह वर्ष के लगभग होगी। मैं इससे पहले कभी माँ से अलग न हुआ था, न मैंने कभी कल्पना की थी कि वह मुझे बहन के पास छोड़कर इतनी दूर चली

जाएगी। मेरे दिल में कुछ-कुछ होने लगा। ऐसा मालूम होता था, जैसे घर में बिलकुल अकेला रह गया हूँ, जैसे माँ अब कभी घर को न लौटेगी; जैसे चारों तरफ़ अँधेरा छा गया है।

विष्णु खेल-कूद में मस्त रहता था; मगर बहन को हरदम मेरी ही चिन्ता थी। जो पैसे उसे अपने लिए मिले थे, वह भी मुझे ही खिला देती थी। वह चाहती थी मैं उदास न हो जाऊँ। मुझे हँसते-खेलते देख कर उसकी आँखें चमकने लगती थीं। मेरे स्कूल से आने का समय होता, तो वह द्वार पर खड़ी मेरी राह देखा करती। मुझे देखती, तो आकर मेरे हाथ से बस्ता पकड़ लेती और कहती—मैं तेरी बाट जोहती थी, चल हाथ-मुँह धोकर खाना खा ले। रात को वह कुप्पी से ड्योढ़ी देखती और दरवाज़ा बन्द करके हमको अन्दर ले जाती। मुझे अपने साथ सुलाती और जब तक हम दोनों भाई सो न जाते, तब तक फूल-राजकुमारी की, सुनहरी नदी की, सब्ज परी की, काले देव की कहानियाँ सुनाया करती थी। ऐसा मालूम होता था, मानो माँ की अनुपस्थिति में उसका सारा प्यार बहन ने ले लिया है। वही स्नेह था, वही त्याग, वही हृदय, वही भाव। कभी-कभी सन्देह होता था, बहन नहीं—माँ है।

इसी तरह पाँच दिन हँसी-खुशी में कट गए। छठे दिन स्कूल जाने लगा, तो ताक पर एक रुपया पड़ा देखा। मेरा दिल धड़कने लगा। सोचा, अगर यह रुपया मेरे हाथ लग जाए तो मज़ा आ जाए, अपनी कक्षा में सबसे अमीर बन जाऊँ। जिसको दिखाऊँ वही दंग रह जाए। पिपरमैंट की टिकियाँ और खट्टी-मीठी अंग्रेज़ी गोलियाँ खरीदलूँ और सबको दिखा-दिखा कर खाऊँ। वे मांगें, जब भी न दूँ। एक रबड़ ले लूँ, एक शीशे की चोर दवात, बहुत से किताबों पर चिपकाने वाले चित्र और एक गेंद। जो देखे वही वाह वाह करे।

सहसा विचार आया कि अगर चोरी पकड़ी गई, तो फिर क्या हो? पिट जाऊँ, ऐसी बेभाव की पड़ें कि खाया-पिया सब निकल जाये। मैंने रुपये की तरफ़ से आँखें हटालीं और बाहर जाने को तैयार हुआ, मगर

आँखें फिर उधर ही देखने लगीं। पिपरमैंट की टिकियाँ, खट्टी-मीठी गोलियाँ, रबड़, गेंद—सब चीज़ें मेरे सामने आकर खड़ी हो गईं और मुझे बुलाने लगीं। उठते हुए पाँव फिर रुक गए। ख्याल आया, कोई देखता थोड़े ही है। अगर कोई पूछेगा तो साफ़ कह देंगे, हमें क्या मालूम ? हमने तो देखा भी नहीं। एक पैसा रोज़ मिलता है, वही खा लेते हैं। हमको रुपये से क्या मतलब ?

मैंने इधर-उधर देखा, मैदान साफ़ था। बहन बाहर आँगन में पुराने कपड़े छाँट रही थी, विष्णु बस्ता बग़ल में दबाए गेंद को उछाल-उछाल कर गोंच रहा था और मेरे सामने एकान्त में सफेद, गोल, चमकदार रुपया ताक पर पड़ा था। मैंने धड़कते हुए दिल से हाथ बढ़ाया और रुपया उठाकर जेब में रख लिया।

स्कूल में पहुँचा, तो मेरा दिमाग़ आसमान पर था। ऐसा खुश था, जैसे मुझे राज-सिंहासन मिल गया है, जैसे मैं हवा में उड़ा जा रहा हूँ। पढ़ने में किस मरदूद का जी लगता था। जिसके पास एकदम एक रुपया हो, अगर वह भी पढ़ने में मन लगाए तो उससे अभागा कौन होगा ? मैं बार-बार जेब टटोल कर देखता था कि रुपया वहीं है न, किसी ने निकाल तो नहीं लिया। आख़िर एक बजा और आधी छुट्टी हुई। मैंने सबसे पहले जाकर एक आने की खट्टी-मीठी गोलियां खरीदीं, एक आने का रबड़ लिया और बाकी पैसे जेब में डालकर अमीराना चाल से धीरे-धीरे स्कूल की तरफ लौट आया। इस समय मेरे पांव धरती पर न पड़ते थे। गोलियां मुँह में डालकर चूसता था और सिर उठा-उठाकर दूसरे लड़कों की ओर देखता था, और कहता था—देखते क्या हो, एक आने की मिठाई है। तुमने बहुत किया, पैसे की ख़रीद ली; हमने एक आने की खरीदी है! थोड़ी देर में मेरी अमीरी सब लड़कों में मशहूर हो गई वे सारे पास बैठने के लिए आपस में झगड़ने लगे। जब छुट्टी हुई तो तीन लड़के मेरे साथ हो गए। जानते थे कि आज इसके पास बहुत पैसे हैं, खायेगा और खिलायेगा।

अब सवाल था कि क्या खायें। बहुत देर 'बहस' होती रही। अन्त में दही-बड़े खाने का निश्चय हुआ। हम सब मिलकर चार लड़के थे, चार-चार पैसे के दही-बड़े खा गये। जनाब ! पूरी चवन्नी का खून हो गया, पर मुझे ज़रा भी परवा न थी—अभी काफ़ी रक़म बाक़ी थी। यहां से उठकर मैंने चार पैसे की चूरन की पुड़ियां लीं, और सबको एक-एक बाँट दी। इसके बाद रेवड़ियां खरीदीं और जेबें भरलीं। ज़रा आगे बढ़े तो बिस्कुटों की दुकान नज़र आई। मेरे पांव वहीं रुक गए। शीशे की दवात, किताब पर चिपकाने वाली तस्वीर सबका ख्याल जाता रहा। मैंने चार आने के बिस्कुट ख़रीद लिए और थोड़े-थोड़े अपने साथियों को देकर बाक़ी खुद खाने लगा। उनकी वह सोंधी-सोंधी बू आज भी याद आ रही है। अब वे बिस्कुट कई बार फिर खाये हैं, मगर वह स्वाद कहाँ ? वह बात ही और थी। जितने खा सकता था, खाए, बाकी काग़ज में लपेट कर बस्ते में रख लिए। रबड़, चूरन, रेवड़ियां और कुछ पैसे जो बच गए थे, वह भी रख लिये। इससे बढ़कर सुरक्षित स्थान मेरे पास और कोई न था। इतने में शाम हो गई। मैं डर गया, आज मुझे घर जाने में बहुत देर हो गई थी। मैंने अपने लोभी दोस्तों से छुट्टी ली और घर को भागकर चला।

बहन आज भी द्वार पर खड़ी मेरी बाट जोह रही थी। मुझे देखते ही गली में चली आई और प्यार से डाँटकर बोली—"आज कहां बैठ रहा था तू ? यह भी ख्याल नहीं कि बहन राह देखती होगी।"

मैं पहले ही जानता था कि मुझ से देरी का कारण पूछा जायगा, इसका जवाब भी मैंने सोच रखा था, बिना संकोच के कहा—"चौक में भानमती का तमाशा हो रहा था, वहीं खड़ा हो गया ज़रा। बड़ा बढ़िया तमाशा था, बहन !"

यह कहकर मैं जल्दी से घर में चला, ताकि बहन बस्ता न देखले। बस्ता रखकर आंगन में आया, तो बहन ने कहा—"आ, खाना खाले, विष्णु तो कभी का खा चुका।"

मगर मुझे भूख ही कहाँ थी, बोला—"आज सारा दिन पेट में दर्द होता रहा है, अभी तो मुझे ज़रा भी भूख नहीं है।"

बहन ने आकर हाथ पकड़ लिया और प्यार से पूछा—"दर्द क्यों हो रहा है?"

मैं क्या जवाब देता—"पता नहीं" के सिवा मेरे पास कोई जवाब न था।

बहन—"सौंफ का अर्क मंगवादूँ। अभी आराम हो जायगा। क्यों?"

मैं—"नहीं बहन! अर्क न पीयेंगे। बड़ा कडुवा होता है।"

बहन—"मगर आराम तो हो जायगा उससे।"

मैं—"हमारे अब दर्द थोड़ा ही होता है, वह तो स्कूल में होता था। अब बिल्कुल आराम है। सिर्फ भूख नहीं है।"

विष्णु ने दूर ही से कहा—"झूठ बोलता है यह। लाओ पैसा अभी दौड़कर ले आयें। नहीं तो रात को चारपाई पर बैठकर रोएगा, फिर हमसे कहोगी, जाता क्यों नहीं; पर हम अँधेरे में न जा सकेंगे, बेशक पड़ा रोया करे। और क्या?"

मैं—"न जाना, तुम्हारी मिन्नत कौन करता है? चले हैं धमकियाँ देने।"

विष्णु—"जब रात में दर्द होगा, उस वक्त पूछेंगे हम।"

मैं—"तो क्या तुम्हें कभी न होगा? क्या कभी बुख़ार भी न चढ़ेगा? तब फिर हम भी तुम्हारे लिए दवा न लायेंगे।"

बहन—"मगर तुम अर्क पी क्यों नहीं लेते? उसमें चीनी छोड़ दूँ तो ज़रा भी कड़वा न मालूम हो। एक मिनट में गले से उतर जाय।"

मैं—"हमें दर्द नहीं, तो हम क्यों पियें? इसकी ज़रूरत नहीं है।"

बहन चुप होगई और जाकर खाना खाने लगी। अब मुझे सन्तोष

हुआ कि मेरी चोरी की तरफ किसी का ध्यान ही नहीं है। मगर दूसरे दिन उठते ही सुना, बहन विष्णु से कह रही है—"देख विष्णु! रुपया सीधे हाथ से दे दे, नहीं तो पिटेगा।"

विष्णु—"मगर मैंने तो रुपया देखा ही नहीं है, दे कहाँ से दूँ?"

बहन—"देखा नहीं है तो क्या ज़मीन खा गई?"

विष्णु—"हमें क्या मालूम? हरि ले गया होगा।"

मेरा कलेजा धड़कने लगा, परन्तु मैं करवट बदलकर चुपचाप लेटा रहा, मानो मुझे गहरी नींद आ रही है।

बहन—"हरि ऐसा लड़का नहीं है। मुझे उस पर ज़रा भी सन्देह नहीं। हो न हो, यह तेरी ही शरारत है। अब भी लौटा दे, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा, वरना याद रख, मां जी अभी आती होंगी। पिट जायगा। आते ही कह दूँगी।"

विष्णु—"सौ दफा कह देना, हज़ार दफा कह देना। जब हमने उठाया ही नहीं, तो हमें डर काहे का है।"

बहन—"फिर किसने उठाया है? बता!"

विष्णु—"हरि ने, (एकाएक चिल्लाकर और आवाज़ को लम्बा करके) हाँ-हाँ! जभी कल रात भूख न थी (चुटकी बजाकर) अब समझा। जनाब ने मिठाई खाई होगी, जलसे किए होंगे, और नहीं क्या?"

मालूम होता है, यह सुनकर बहन को भी हमारी नेक चलनी पर सन्देह हो गया। थोड़ी देर बाद वह आकर मेरी चारपाई पर बैठ गई और मुझे धीरे से हिलाकर बोली—"हरि!"

मैं चुपचाप लेटा रहा

बहन—(ज़रा ज़ोर से) "ओ हरि!"

मैं अब भी न बोला।

बहन—(मेरा कन्धा हिलाकर और भी ज़ोर से)—"हरि!"

मैं आँख मलता हुआ उठकर बैठ गया, परन्तु बहन के मुँह की ओर देखने की मुझ में हिम्मत न थी।

बहन—"तुमने ताक पर से रुपया तो नहीं उठाया? कल ही रखा था।"

मैं—(आश्चर्य प्रकट करते हुए)—"मैंने!"

बहन—"हाँ, तुमने, अगर लिया हो तो दे दो, वर्ना माँ जी आ रही हैं, अभी आध घण्टे के अन्दर-अन्दर। स्टेशन पर पहुँच चुकी होंगी।"

मैं—"हमने नहीं लिया। हमने देखा भी नहीं। हम तो ताक की तरफ़ गए नहीं।"

बहन—"अजब बात है। न तुमने लिया है, न विष्णु ने, तो फिर क्या चोर ले गये?"

मैं—"हमें क्या मालूम, हमने नहीं देखा। अच्छी तरह ढूँढ़ो, शायद चूहे ले गये हों।" बहन को मेरे अनाड़ीपन पर हँसी आ गई, बोली—चूहे ले गये हों! यह खूब रही। देखो, हरि मुझे विश्वास हो गया है कि रुपया तुमने चुराया। सच-सच बता दो, कहाँ है?"

मगर मैं रोता था और बार-बार कहता था—"मैंने रुपया नहीं देखा।"

इतने में विष्णु ने आकर मेरा बस्ता बहनके सामने पटक दिया और बोला—"लो बहन जी! देख लो, यह रबड़, यह बिस्कुट, यह चूरण, यह पैसे,—यह सब कुछ कहाँ से आया? तुम मानती ही न थीं। अब कहो कौन चोर है?"

बहन ने सब चीज़ें देखीं और पैसे गिनकर कहा—"अरे कुल दो आने बचे हैं? तो क्या चौदह आने खा गया तू? (सिर हिलाकर) जभी रात भूख न थी। क्या खाया था?"

मेरा लहू सूख गया। मुँह में जीभ थी, जीभ में बोलने की शक्ति न थी। ज़मीन की तरफ देखता था, और सोचता था—अब क्या होगा,

कल दही-बड़े, मीठी टिकियां और बिस्कुट खाये थे, आज मार खानी होगी। मैं चाहता था खाना खाये बिना स्कूल भाग जाऊँ, परन्तु उस दिन इतवार था, भाग्य ने भागने का यह रास्ता भी बन्द कर रखा था। अब मेरे बचाव का एक ही तरीक़ा था, मां आज न आयें। किसी कारण से एक-दो दिन और वहीं रुक जायें या मुझे बुखार चढ़ जाये, या निमोनिया हो जाये। कभी-कभी यह भी ख्याल आता था कि मकान की छत गिर पड़े और मैं नीचे दबकर जख्मी हो जाऊँ, परन्तु परमात्मा ने मेरी कोई शुभ इच्छा पूरी न की और थोड़ी देर बाद मां आगई।

किसी दूसरे समय मैं दौड़कर माँ की टाँगों से चिमट जाता; मगर आज वह उमंग कहाँ? उलटे उसे देखकर मैं अन्दर जा छिपा। परन्तु विष्णु को यह सब्र कहाँ कि दो मिनट भी चुप रह जाता। माँ अभी आराम से बैठी भी न थी कि उसने कहा—"माँ जी! कल हरि ने रुपया चुराया था।"

पता नहीं, माँ गाड़ी में किसी से लड़कर आई थी या और कुछ कारण था; मगर इस समय वह ख़फ़ा ज़रूर थी। मेरी शिकायत सुनकर उसे और भी ज़हर चढ़ गया, बहन से बोली—"क्या बात है मोहनी?"

बहन—"कुछ भी नहीं। पहले तुम नहा तो लो।"

माँ—"नहा बाद में लूँगी। कहाँ है, ज़रा बुलाओ तो उसे मेरे सामने। अब चोरी भी सीखने लगा।"

विष्णु—(उँगली से इशारा करके)—"अन्दर छिपा हुआ है माँ जी! अभी यहाँ खड़ा था। तुम्हें आते देखा, तो अन्दर भाग गया। चौदह आने खर्च कर डाले। सिर्फ़ दो आने के पैसे बचे हैं। कल सारा दिन बिस्कुट खाता रहा है, रात कहता था—'मुझे भूख नहीं है'।'

बहन—"भागता है या नहीं यहाँ से। चला है बड़ी खुशखबरी

सुनाने। दो मिनट चुप रहता तो क्या तेरा पेट फट जाता, कलमुँहा कहीं का ?"

माँ—"चौदह आने खा गया एक दिन में! कहाँ है, मैं उसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगी।" वह भी क्या याद करेगा कि कभी चोरी की थी। हरि! ओ हरि, ज़रा यहाँ आ। छिपता कहाँ है ?"

मैं धीरे-धीरे जाकर माँ के सामने खड़ा हो गया; मगर इस हालत में जैसे शरीर में जान ही न हो। माँ ने मेरी तरफ़ लाल-लाल आँखों से देखा और बोली—"तूने चोरी की है ?"

मैंने अपनी सजल आँखों से उसकी तरफ़ देखा और ठण्डी साँस भर कर सिर झुका लिया।

माँ—"बोलता क्यों नहीं ?"

मैं चुप रहा।

माँ—"अब तो जैसे मुँह में जवाब ही नहीं है। मैं क्या पूछ रही हूँ! सुनता है, या नहीं।"

मैं सोचता था—क्या करूँ। बोलूँ तो कठिनाई, न बोलूँ तो कठिनाई। इधर मेरी चुप्पी माँ की क्रोधाग्नि पर तेल का काम कर रही थी, पर मैं बोलता न था कि बोला तो पिट जाऊँगा।

आख़िर माँ का क्रोध सीमा पर पहुँच गया। उसने रोटियाँ बेलने वाला बेलन उठा लिया और कहा—"बोलता है या नहीं। तूने चोरी क्यों की ?"

मैं—(डरते-डरते गालों पर हाथ रखकर) "अब न करूँगा।"

परन्तु अभी बात पूरी भी न होने पाई थी कि बेलन मेरी पीठ पर था। एक बार हाय का शब्द मेरे मुँह से निकला और मैं चुप हो गया। मालूम होता है माँ मेरी चुप्पी से चिढ़ती थी। शायद सोचती हो कि यह रोता नहीं है इसलिए इसे और सजा मिलनी चाहिए। उसने फिर बेलन उठाया, मेरी 'चीख़-मय' हाय फिर हवा में गूँज उठी। फिर चारों तरफ़ निस्तब्धता छा गई। इसी तरह कई मिनट तक मैं ग़लत-फ़हमी में मार

खाता रहा। आज सोचता हूँ, अगर रोना शुरू कर देता, तो इतना कभी न पिटता, मगर उस समय बाल-नीति के इस चाल-कांड का ज्ञानी ही न था। मैं चुपचाप मार खाता जाता था, माँ का क्रोध बढ़ता जाता था। परमात्मा भला करे बहन का, जिसने मुझे बचा लिया, वर्ना न जाने मेरे भाग्य में उस दिन क्या बदा था ?

दोपहर के समय बहन ने आकर मेरे सिर पर हाथ फेरा और मुझसे कहा—"जाकर माँ जी से क्षमा माँग ले, नहीं घर से निकाल देंगी।"

मैं भले लड़के की तरह माँ के पास गया और हाथ बाँधकर धीरे से बोला—"फिर ऐसी भूल न करूँगा।"

माँ ने मुझे पकड़कर गले से लगा लिया और फूट-फूटकर रोने लगी। रोती थी और कहती थी—"बेटा ! तू ने क्यों चोरी की। न चोरी करता, न मार खाता। उस समय क्रोध में मार बैठी। अब पछता रही हूँ।"

थोड़ी देर बाद उसने मेरे लिए बाजार से गरम-गरम दूध मंगवाया और जब तक सामने बैठ कर पिला न लिया तब तक उसे चैन न आया। तब उसने मुझे गोद में लेकर प्यार किया और कहा—"बेटा ! घर में माँ-बाप और स्कूल में मास्टर तुम्हारे ही भले के लिए मारते हैं। उनके मारने का बुरा नहीं माना करते।"

कुछ दिनों बाद स्कूल में मास्टर साहब ने किसी साधारण-सी भूल पर मुझे इस तरह मारा, जैसे मैंने कोई नर-हत्या कर डाली हो। मगर मारने के बाद उनकी आँखों में एक भी आँसू न था, न उन्होंने मुझे गरम दूध पिलाया, न गोद में लेकर प्यार किया। मेरे मन में विचार आया, माँ भी मारती है, मास्टर भी मारता है। निस्संदेह दोनों के दिल में मेरी भलाई की इच्छा है। परन्तु दोनों के मारने में कितना अन्तर है ? माँ मारती है और रोती है, मास्टर मारता है और भूल जाता है।

धर्म-सूत्र

ज्येष्ठ का महीना था, दोपहर का समय। आकाश से आग बरसती थी। बाज़ार खुला था, मगर वहाँ कोई आदमी नज़र न आता था। धूप की तरफ़ देखने से भी गरमी लगती थी, मानो यह धूप, धूप न थी; जलता हुआ अलाव था। लाला चन्दूलाल और उनकी स्त्री अपने मकान के कच्चे फर्श पर लेटे थे। परन्तु गरमी के मारे नींद न आती थी। हाँ, कभी-कभी ऊँघ जाते थे, जिससे मन और ज़्यादा ख़राब हो जाता था। इतने में किसी ने द्वार खटखटाया।

लाला चन्दूलाल सोते न थे, मगर उनको इस आने वाले पर क्रोध आया। सोचा, ऐसे कुसमय में आने वाला कौन है? हम तकलीफ़ में बहुत जल्द झुँझलाकर उठते हैं। गरम पानी को उबालने के लिए तेज़ आग की आवश्यकता नहीं, हलकी-सी आँच ही काफी है। लाला चन्दूलाल ने उसी तरह लेटे लेटे पूछा—"कौन है इस समय?"

"जल्दी दरवाज़ा खोल दो।"

चन्दूलाल का हृदय धड़कने लगा—यह उनके प्यारे मित्र द्वारकादास थे। उनका क्रोध एक क्षण में दूर हो गया। जल्दी से कुरता पहना। स्त्री से कहा, कपड़े ठीक कर लो। बिस्तर से चादर निकाल कर भूमि पर बिछा दो, और जाकर दरवाज़ा खोल दिया। द्वारकादास

घबराए हुए अन्दर आए। उन्होंने कोट-टोपी उतारकर खाट पर रख दी और आप भूमि पर लेट गए। मुँह से बात न निकलती थी।

चन्दूलाल ने उन्हें प्रेम-पूर्ण क्रोध की दृष्टि से देखकर कहा—"इस दोपहर में बाहर निकलने की क्या पड़ी थी? ज़रा बचकर रहा करो, नहीं तो लू लग जायगी।"

चन्दूलाल की स्त्र जमना छोटा-सा घूँघट निकाले एक कोने में खड़ी थी। उसने द्वारकादास की तरफ़ देखकर धीरे से कहा—"इस गरमी में भी भला कोई बाहर निकलता है? सारे कपड़े पसीने में तर हो गए।"

चन्दूलाल ने पंखे की रस्सी खींचते हुए कहा—"मैं पंखा खींचता हूँ। तुम कुएँ से जाकर थोड़ा ताज़ा पानी ले आओ।"

जमना ने ज़रा भी ननु-नच ना किया और घड़ा उठाकर पानी लेने चली गई। थोड़ी देर बाद द्वारकादास ने आँखें खोलीं और बोले—"यहाँ आकर ऐसा मालूम होता है, जैसे किसी ने नदी में फैंक दिया हो। कैसी ठंडी जगह है, गरमी नाम को नहीं।"

चन्दू०—"बाहर से आए हो तभी ये बातें बना रहे हो। हमारा तो दम घुटा जाता है।"

द्वारका०—"कदाचित् यही कारण होगा। बाहर तो आग बरसती है।"

चन्दू०—"मगर तुम इस समय आए किधर से हो?"

द्वारका०—"एक आसामी की तरफ़ गया था। उसने बहुत तंग कर रखा है। सोचा, दावा करने से पहले एक बार अन्तिम प्रयत्न कर देखूँ, शायद मान जाए। परन्तु वह किसी की सुनता ही नहीं। अब नालिश किए बिना काम न चलेगा।"

चन्दू०—"तो क्या पैदल गए थे?"

द्वारका०—"नहीं गया तो ताँगे पर था। पर अब पैदल ही आ

रहा हूँ! समझो जान बच गई। नहीं मरने में कसर न थी। ताँगा टूट गया, घोड़ा ज़ख्मी हो गया।"

चन्दूलाल ने आश्चर्य से पूछा—"अरे यह कैसे?"

द्वारका०—"घोड़ा बेक़ाबू हो गया था। ताँगा एक वृक्ष से टकरा गया।"

चन्दू०—"और, साईस क्या सो रहा था?"

द्वारका०—"उसने हाथ-पाँव तो बहुत मारे, पर उसकी कुछ चली नहीं। कुसमय में साहस भी साथ छोड़ देता है।"

चन्दू०—"खैर! जान बच गई, यही बड़ी बात है। कहो, खाना तो अभी न खाया होगा?"

द्वारका०—"कभी का खा चुका। एक मित्र मिल गए थे, उन्होंने खिला दिया।"

एकाएक द्वारकादास ने इधर-उधर देखकर पूछा—"भाभीजी कहाँ चली गई हैं?"

"तुम्हारे लिये पानी लेने गई थीं—लो, वह आ गईं।"

द्वारकादास को बहुत दुःख हुआ। हम अपने मित्र को कष्ट दे सकते हैं, उससे लड़ाई-झगड़ा करने में भी हमें संकोच नहीं होता। मगर मित्र की स्त्री के सामने पहुँच कर हम धर्म और दया के अवतार बन जाते हैं। द्वारकादास ने कहा—"यह तुमने इन पर ज़ुल्म किया है। मैं दुबारा तुम्हारे यहाँ पैर न रखूँगा।"

इतने में जमना पानी का घड़ा लिए अन्दर आ गई और बोली—"शरबत घोल दूँ?"

द्वारकादास ने उसकी तरफ़ कातर दृष्टि से देखकर कहा—"भाभी! तुमने मुझसे क्यों न कहा? मुझे मालूम नहीं हुआ, नहीं तो इस धूप में तुम्हें बाहर न निकलने देता।"

जमना लजा गई, जो सुशील स्त्रियों का स्वभाव है। उसने मुँह से

कुछ न कहा। परन्तु उसके हाव-भाव साफ़ कह रहे थे—यह तो रोज़ का काम है, कोई नई बात नहीं।

(२)

द्वारकादास ने ठंडा जल सिर में डाला, मिसरी का शरबत पिया, तब जान में जान आई। मगर अभी उनमें घर जाने की शक्ति न थी। ऐसी गरमी में तीन मील का सफ़र कौन तय करे? दो बज गये थे, यह समय उनके सोने का था। आँखें अपने आप बन्द होने लगीं। शरीर में आलस्य छा गया, जो निद्रा देवी के आगमन की पूर्व-सूचना है। द्वारकादास ने बहुत यत्न किया कि आँखें बन्द न हों, परन्तु नींद का रोकना आसान नहीं। आखिर हँस कर बोले—"भाई साहब! भाभी जी समझती होंगी, शरबत पिला कर छुटकारा हो गया! मगर मैं तो सायंकाल से पहले न टलूँगा। बुरी तरह नींद आ रही है।"

जमना—(हँसकर धीरे से) "यह कोई सराय समझी है? यहाँ मुफ्त सोने की आज्ञा नहीं।"

चन्दू—लो, सुन लिया तुमने? यह घर है सराय नहीं।"

द्वारका०—"चुप रहो जी, तुम बीच में बोलने वाले कौन हो! देवर-भाभी का महायुद्ध है (ऊँची आवाज़ से) हाँ भाभी! मैं मुफ्त न रहूँगा, किराया दूँगा। मगर पहले तय कर लो, कहीं बाद में झगड़ा न हो जाय।"

चन्दू०—"चलो, हमें कोई पूछता ही नहीं।"

द्वारका०—"बोलो भाभी! क्या किराया देना होगा?"

जमना—(पति से) "इनसे कहो, रात को रोटी यहीं खानी होगी।"

द्वारका०—"यह किराया बहुत ज्यादा है, कम कीजिए।"

चन्दू०—(स्त्री से) "कहते हैं, ज्यादा है, कम कीजिए। कुछ है गुंजाइश।"

जमना ने सिर के इशारे से कहा—"नहीं।"

द्वारका०—"ख़ैर मुझे स्वीकार है।"

चन्दू०—"अगर ऐसे-ऐसे दो-चार सौदे रोज़ हो जाया करें, तब तो मेरा दिवाला निकलने में देर नहीं।"

द्वारका०—"क्या कहा आपने ! बर्फ़ में सर्द किये हुए आम, पुलाव और सरदा भी खाना होगा। चलो भाई ! आज तो कुछ होना है, हो जाय ! यह भी सही।"

चन्दू०—"कान बजते हैं श्रीमान् जी के ?"

द्वारका०—(जान-बूझकर) "मलाई भी होगी ? यह तो सरासर ज़्यादती है मेरे साथ। परन्तु जब ओखली में सिर दिया तो मूसल का क्या डर।"

चन्दूलाल और जमना, दोनों हँसने लगे। मगर द्वारकादास के मुँह पर हँसी न थी। थोड़ी देर के बाद छत की तरफ देखकर बोले—"पंखा तो बहुत बाँका है, देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। क्या यहाँ कोई पंखा-कुली मिल जायगा ? अगर हो तो बुला लो, नहीं नींद न आएगी।"

जमना ने मुस्करा कर कहा—"इसका किराया जुदा देना होगा।"

द्वारका०—"हमारी भाभी बड़े सूम-स्वभाव की हैं; ज़रा रू-रियायत नहीं करतीं। मुझे तो डर लगने लगा। मगर इसके सिवा गुज़ारा न होगा। (चन्दूलाल से) यार, कोई कुली बुलाओ।"

चन्दू०—"होश करो। यहाँ कुली कहाँ ?"

द्वारका०—"सच कह रहे हो ?"

चन्दू०—(व्यंग्य से) "जी नहीं, झूठ बोल रहा हूँ।"

द्वारका०—"तो नींद आ चुकी।"

इस समय द्वारकादास के मुँह पर परेशानी थी, आँखों में निराशा। चारों तरफ़ देखते थे कि कहीं हँसी तो नहीं कर रहे। शहर का रहने वाला गाँव में फँसा था और अपनी बेबसी पर सटपटाता था, जैसे पहाड़ का रहने वाला गर्म देश में आकर घबरा जाता है। उस समय उसके मन में कैसे-कैसे विचार आते हैं ! अपनी जन्म-भूमि और उसके सुन्दर-सुहावने

दृश्य आँखों तले फिर जाते हैं। यही दशा द्वारकादास की थी। उनको शहर याद आ गया, यहाँ आराम पैसों के वज़न बिकता है। इस समय वह रोज़ सोया करते थे। क्या आज भी सोवेंगे? उन्होंने ठण्डी साँस भरी।

जमना ने अपने पति की ओर देखकर कहा—"संभव है, कोई आदमी मिल जाए। इनको तो नींद न आवेगी।"

चन्दूलाल आदमी देखने बाहर चले; मगर कोई ऐसा आदमी न मिला। यह गाँव था, शहर नहीं। गाँव के लोग ग़रीब होते हैं, परन्तु लोभी नहीं। वे साधारण काम-काज करने से नहीं घबराते, न उनको इस पैसे से संकोच ही होता है। मगर पैसे लेकर टहल-सेवा करना वे मौत से भी बढ़ कर समझते हैं, वैसे हल चलाने को दिन-भर तैयार रहेंगे। लेकिन शहर का बच्चा-बच्चा लोभी है। वहाँ ऐसे आदमी पग-पग पर मिल जाएँगे। चन्दूलाल ने बहुत ढूँढ़ा, परन्तु उन्हें कुली न मिला। मेहनती सभी थे, मज़दूर एक भी न था। निराश होकर चन्दूलाल वापस आए। जमना दरवाज़े पर खड़ी थी। धीरे से बोली—"कोई आदमी मिला?"

"नहीं।"

"मुझे पहले ही आशा न थी।"

"बड़ी लज्जा की बात है, उन्हें नींद न आवेगी।"

"पर किया क्या जाय?"

"कहेंगे एक दिन के लिये जा निकले थे, पंखे का भी प्रबन्ध न हो सका।"

"यहाँ किसान लोग बसते हैं, मज़दूर नहीं।"

"तो तुम्हीं किसी को पकड़ लाओ, मैं तुम्हें रोकता थोड़ा ही हूँ।"

जमना ने कुछ देर सोचा। सहसा उसे एक रास्ता सूझ गया। मुस्कराकर बोली—"तो आप जाइए, मैं प्रबन्ध किये देती हूँ।"

चन्दूलाल कुछ न समझ सके, सिर झुकाकर अन्दर चले गये।

(३)

थोड़ी देर बाद पंखा चलने लगा। द्वारकादास ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे किसी का रोग कट जाय। चन्दूलाल से हँस-हँस कर बातें करने लगे। चन्दूलाल सोचते थे लाज रह गई। नहीं तो इन्हें मुँह दिखाने लायक न रहता। वह मन-ही-मन जमना की प्रशंसा कर रहे थे—कैसी समझदार स्त्री है। कोई मूर्खा होती, तो सीधे मुँह बात न करती। कहती तुम्हारा दोस्त आया है, तो मैं क्या करूँ, मुझसे बाहर नहीं निकला जाता। परन्तु उसके चेहरे पर कैसा विषाद था, आँखों में कैसी उद्विग्नता थी। मालूम होता था, वह इसे अपना अपमान समझती है। मर्द मिलता न था, किसी स्त्री को पकड़ लाई होगी। यह स्त्री नहीं देवी है।

द्वारकादास ने कहा—"कहो, अब यह आदमी कैसे मिल गया?"

चन्दूलाल—"तुम्हारी भाभी ढूँढ़ लाई है। मैं तो हार कर वापस चला आया था।"

द्वारकादास—"तो मालूम हुआ, तुम निरे मिट्टी के लोंदे ही हो। जो काम तुमसे न हो सका, वह उन्होंने कर दिखाया।"

चन्दूलाल—"इसमें क्या शक है। मैं आप हार मानता हूँ।"

द्वारकादास—"ऐसी ही देवियां होती हैं, जिन्हें घर की लक्ष्मी कहते हैं।"

चन्दूलाल—"यह न कहो तो रात को खाना कैसे मिले?"

द्वारकादास—"मगर वह आप किधर चली गईं?"

चन्दूलाल—"इसी कोठरी में होगीं।"

द्वारकादास ने चारों तरफ देखा। हर चीज़ साफ़ थी, और अपने ठिकाने रखी थी। यह चीज़ें बहुत मूल्यवान् न थीं, परन्तु उनकी सफ़ाई देखकर दिल खुश हो जाता था। कहीं भी गर्दा, जाला या दाग़ दिखाई न देता था। फ़र्श, दीवारें, छत—सब ऐसे चमकते थे, जैसे शीशा। द्वारकादास सन्नाटे में आ गये। यह मकान न था, किसी योगी का दिल

था। वही सादगी थी, वही पवित्रता। वही तपस्या थी, वही शान्ति। यहाँ दुनियादारों के ठाट-बाट न थे, योगियों का आत्म-संयम था। वही त्याग, वही सन्तोष। यहाँ गैस बिजली के लैम्प न जलते थे, परन्तु सच्चे प्रेम का प्रकाश चारों तरफ फैला हुआ था। द्वारकादास ने इन भाग्य-वानों को मन-ही मन नमस्कार किया। सोकर उठे, तो पाँच बज चुके थे। मगर चन्दूलाल अभी तक सोते थे। द्वारकादास बाहर निकले। वह चाहते थे कि चन्दूलाल के जागने से पहले ही पंखा-कुली को मज़दूरी देकर भेज दें। उन्हें भय था कि अगर चन्दूलाल उठे, तो वह ये पैसे उन्हें कभी न देने देंगे। द्वारकादास को यह स्वीकार न था। चन्दूलाल उनके मित्र थे। ऐसे खरे प्रेमी, सरल-हृदय आदमी दुनिया में किसी ने कम देखे होंगे। वह अमीर न थे, उनकी आय बहुत थोड़ी थी, परन्तु आत्म-सम्मान की दौलत से वह मालामाल थे। लाला द्वारकादास उनके इन दैवी गुणों पर लट्टू थे। सोचा, मैंने उनके सामने पैसे दिये, तो बुरा मानेंगे। आश्चर्य नहीं, इसे अपना अपमान समझें। यह बात उनके लिए असह्य थी।

परन्तु बाहर आये, तो उनका दिल बैठ गया, जैसे किसी ने ऊँचे मकान से गिरा दिया हो। बाहर आँगन की खुली धूप में दो चारपाइयाँ खड़ी करके जमना अपने हाथों से पंखा खींच रही थी। वह नीच जाति की औरत न थी, दिन-रात परिश्रम करने वाली जाटिनी न थी। उसने ऐसा काम-काज आज से पहले कभी न किया था। मगर आज ढाई घंटों से यह बराबर रस्सी खींच रही थी। कोमल हाथ थक गये थे, फिर भी खींच रही थी। सारी देह पसीने से भीग गई थी, फिर भी खींच रही थी। ऐसी लगन से किसी भक्त ने अपने उपास्य-देव को भी कम रिझाया होगा, और यह परिश्रम, यह तपस्या केवल इसलिये थी कि उसके पति का मित्र आराम की नींद सो सके। उसे अपने पति का कितना खयाल है, उसकी मान-मर्यादा की कितनी परवाह है। द्वारकादास की आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने पहले घर देखा था, अब गृहिणी के दर्शन किये। घर पवित्र

था; परन्तु गृहिणी की पवित्रता के सामने उसकी पवित्रता कैसी थोड़ी, कैसी तुच्छ थी। यह श्रद्धा, यह भावना, यह सरलता देखकर उनका दिल दहल गया। इस स्वार्थ-पूर्ण संसार में ऐसी देवियाँ भी हैं, उन्हें यह ख्याल न था। उनके पैर रुक गये, जैसे किसी ने उनमें बेड़ियाँ डाल दी हों। ये बेड़ियाँ लोहे की या पीतल की न थीं, भक्ति और प्रेम की थीं। द्वारकादास आगे न बढ़ सके। उन्हें देखकर जमना का गौरव मिट्टी में मिल जाता। मनुष्य दुश्मन का सुदृढ़ गढ़ तोड़ सकता है, मगर अबोध बालक का मिट्टी का घरौंदा तोड़ने की शक्ति किसमें है? द्वारकादास वापस चले आये।

देखकर मक्खी नहीं निगली जाती। द्वारकादास ने आते ही चन्दूलाल को जगा दिया और बातें करने लगे। अभिप्राय यह था कि जमना समझ जाय कि जग पड़े हैं। अब उन्हें जमना का पंखा खींचना एक क्षण के लिये भी सह्य न था।

जमना ने आवाज़ सुनी, पंखा छोड़ दिया और अन्दर चली आई। इसके बाद हाथ-मुँह धोकर, सिर का दुपट्टा ठीक करके उस कमरे में आगई, जहाँ दोनों मित्र बैठे बातें कर रहे थे। इस समय जमना के मुख-मण्डल पर स्वर्गीय आभा थी। मगर चन्दूलाल और द्वारकादास की आँखें ऊपर न उठती थीं। वे अपनी दृष्टि में आप ही गिरे हुए थे, जैसे उनसे कोई पाप हो गया हो। तीनों के दिलों में विचार अलग-अलग थे, मगर भाव एक ही। जैसे त्रिवेणी में तीन नदियाँ अलग-अलग रास्तों से आकर एक हो जाती हैं।

(४)

शाम को द्वारकादास चलने लगे, तो उनकी आँखें सजल हो गईं। वह अमीर आदमी थे। उन्होंने शानदार जलसे देखे थे। बढ़िया और स्वादिष्ट खाने खाये थे। मगर जो रस, जो स्वाद इस देहाती खाने में था, वह इससे पहले कभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। यह चटपटी चीज़ों

का भोजन था, बनावट का नहीं। यह विशुद्ध और विलक्षण प्रेम का भोज था। लेमोनेड और लाइमजूस में गैस की तेज़ी ज़रूर है, मगर उनमें सन्दल और केवड़े की ठण्डक कहाँ? उनमें स्वाद है, मगर प्यास भड़क उठती है। इनमें सादगी है, परन्तु हृदय को शान्ति मिल जाती है।

चलते समय द्वारकादास ने कहा—"भाई! सच कहता हूँ, आज का दिन मुझे कभी न भूलेगा। तांगे का टूटना शुभ हो गया, वर्ना यह खाना कभी न मिलता।"

चन्दू०—"भीलनी के घर भगवान् आ गये थे। अब बेरों की प्रशंसा हो रही है।"

द्वारका०—"मुझे शर्मिन्दा न करो। जो लज़्ज़त इस खाने में थी, वह माँ की रोटियों के बाद मुझे और कहीं नहीं मिली।"

चन्दू०—(हँसकर) "स्त्री की रोटियों में भी नहीं?"

द्वारका०—"नहीं, वहाँ भी नहीं।"

चन्दू०—"झूठ बोल रहे हो। तुम्हारी यह उक्ति कैसे मान लूँ?"

द्वारका०—"प्यारी स्त्री का प्यार दुनिया में बहुत उच्च वस्तु है, परन्तु स्नेहमयी बहन की प्रीति उससे भी उच्च है। वह अगर चाय है, तो यह मीठा दूध। चाय और दूध की तुलना किसने की है?"

चन्दू०—(व्यंग्य के भाव से) "तुम तो चाय के बिना रह न सकते थे। यह काया-पलट कब से?"

द्वारका०—"दूध देखा न था। आज आँखें खुल गईं।"

चन्दू०—"परन्तु यह तुम्हारी भाभी है, बहन नहीं।"

द्वारका०—"मैं इन्हें अब भाभी न कहूँगा। भाभी का संसारी नाता है, बहन का नाता धर्म का है। यह पवित्रता, प्रेम, बलिदान का नाता है। मेरे दो भाई हैं, बहन कोई नहीं। मैंने अपने इस दुर्भाग्य पर प्रायः घंटों आँसू बहाये हैं। आज इस गाँव में आकर मुझे बहन मिल गई। मिट्टी के टुकड़ों में हीरे की कनी छिपी होगी, यह ज्ञान न था। अब यह गाँव मेरे लिये देहात नहीं, तीर्थ-राज है।"

चन्दूलाल और जमना दोनों इस प्रेम-पूर्ण भाषण को इस तरह सुन रहे थे, जैसे कोई तत्त्व-वेत्ता उनके सामने किसी गूढ़ रहस्य का बखान कर रहा हो। दोनों के मुँह में ज़बानें थी, परन्तु उनमें वाणी न थी। दोनों चुपचाप खड़े सुन रहे थे कि द्वारकादास ने आगे बढ़ कर जमना का घूँघट उलट दिया और कहा—"तुम्हें अब मुझ से परदा करने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारा भाई हूँ।"

चन्दूलाल मुस्कराने लगे; मगर जमना के चेहरे पर हँसी न थी। उसके चेहरे पर वे भाव थे, जो हर एक धार्मिक यज्ञ के अवसर पर आर्य-ललनाओं के चेहरे पर प्रकट होते हैं। हम पुरुष लोग धर्म के साथ हँसी कर सकते हैं; परन्तु हमारी देवियाँ ऐसी पतित कभी नहीं हुई। जमना ने बहन की आँखों से, जिनमें अमर प्रेम का कभी समाप्त न होने वाला सोता फूट रहा था, अपने धर्म-भाई की तरफ़ देखा और आँखों ही आँखों में कहा—भाई-बहन बनना आसान है; परन्तु इस धर्म-सूत्र का निभाना बड़ा कठिन है।

द्वारकादास ने इस मौन संदेश का उत्तर न दिया, केवल गरदन ऊँची उठाई। जमना को उत्तर मिल गया। यह उत्तर कितना आशापूर्ण था, कितना प्रकाशमय! जमना का हृदय आनन्द-सागर में हिलोरें मारने लगा। उनके भी कोई भाई न था। आज यह अभाव पूरा हो गया।

(५)

इस समय द्वारकादास ऐसे खुश थे, जैसे किसी ग़रीब को हीरा मिल जाए। उनके पाँव भूमि पर न पड़ते थे। उन्होंने एक सती-साध्वी का पावन प्रेम जीत लिया था। चारों तरफ़ रात का अँधेरा छाया हुआ था, मगर उनकी आँखों के सामनें वही स्वर्गीय आभा थी—वही सुन्दर झोंपड़ा, वही खुला आँगन, वह प्रेम-भरी मुस्कराहट और निःस्वार्थ सहानुभूति के रस में डूबी हुई मधुर बातें। ज्यों-ज्यों स्यालकोट के पास पहुँचते जाते थे, उनका दिल उदास होता जाता था, जैसे जवान लड़का

अपनी प्यारी माँ से पहली बार बिछुड़ा हो। यहाँ तक कि शहर के बिलकुल पास पहुँचकर उनके पैर रुक गये, आँखों में आँसू आ गये। जमना किस तरह पंखा खींचती थी! कैसे बहनों के से आदर से! उस समय वह इस मर्त्य-लोक की रहने वाली नहीं, स्वर्ग की देवी मालूम होती थी। मैं उसका कौन था? कोई भी नहीं! मेरा उसके साथ कोई सम्बन्ध, नाता-रिश्ता न था। परन्तु फिर भी उसने मेरे दो घड़ी के आराम के लिए अपने कोमल हाथों से पूरे ढाई घंटे तक पंखा खींचा, और वह भी धूप में बैठकर। यह स्वार्थ-रहित प्रेम का भार कब उतरेगा? किस तरह?

विचार-तरंग यहीं तक पहुँचने पाई थी कि उनका घर आ गया। परन्तु वह उन विचारों को नहीं छोड़ना चाहते थे, मानो यह घटना साधारण घटना न थी, ज्ञान और शक्ति से भरी हुई मनोरंजक कहानी थी।

रात को उन्होंने खाना न खाया, तो तारा (पत्नी) ने पूछा—"क्या कुछ तकलीफ़ है?"

द्वारका०—"नहीं, ज़रा मुरादपुर चला गया था, चन्दूलाल ने खिला दिया।"

तारा—"आज कुछ उदास मालूम होते हो।"

द्वारका०—"आज तो मैं बहुत खुश हूँ।"

तारा—"रुपया मिल गया होगा।"

द्वारका०—"आज जो वस्तु मिली है, वह रुपये से भी बढ़कर है।"

तारा—"वह क्या?"

द्वारका०—"समझ जाओ।"

तारा—"मुझ में यह बुद्धि कहाँ?"

द्वारकादास तारा की प्रकृति से अपरिचित न थे। वह जानते थे कि तारा इस बात से कभी प्रसन्न न होगी। मगर वह चुप न रह सके। हम खुशी की बात छिपा कर नहीं रख सकते। दुःख काला पत्थर है, जो पानी में पड़कर आँखों से ओझल हो जाता है, परन्तु खुशी वह चमकदार शीशा है जो गहराई में भी चमकता है। इस जीवन-ज्योति

को दिल के तहखाने में किसने छिपाया है ? द्वारकादास ने सारी कथा तारा से कह डाली।

तारा ने यह कथा सुनी, मगर ठीक उसी तरह, जैसे कोई सूम-साहूकार किसी मेहमान का आना सुने और झल्ला उठे। उस पर थोड़ी देर विचार किया और तब धीरे से कहा—"चलो, किसी दिन त्योहार पर चार पैसे की चीज़ भेज देना। ग़रीब आदमी हैं, खुश हो जायँगे।

द्वारकादास—"तुम्हारा अनुमान ग़लत है। वे ग़रीब हैं, पर उनका दिल ग़रीब नहीं।"

तारा—"तो सारा घर उठा कर दे दीजिए। मैं अगर हाथ पकड़ूँ, तो जो चोर की सज़ा वह मेरी।"

द्वारका०—"तुम कैसी वाहियात बातें करती हो।"

तारा—"अभी गालियाँ मिलती हैं, वह महारानी दो-चार बार यहाँ आगईं, तो धक्के मिलेंगे। मगर मैं उसे अपने मकान में पैर भी न रखने दूँगी।"

द्वारकादास का चेहरा लाल हो गया। तमककर बोले—"वह यहाँ ज़रूर आवेंगी, तुम को जो कुछ करना हो, कर लो।"

तारा—"तो यह क्यों नहीं कहते कि नई दुलहिन से मन मिला है! पर एक बात कहे देती हूँ। मैं उन स्त्रियों में से नहीं हूँ जो अपना घर सामने लुटते हुए देखती हैं और मन मारकर रह जाती हैं। मैं उसका पेट चीर दूँगी।"

क्या सोचा था, क्या हो गया! द्वारकादास स्वभाव से ही अत्यन्त सहनशील थे; परन्तु इस दोषारोपण से उनके जैसे आग लग गई! चन्दन भी रगड़ा जाए, तो उससे आग निकलती है। गरज कर बोले—"खबरदार! संभल कर बोलो। यही शब्द दुबारा कहे तो मुँह से जीभ खींच लूँगा।"

तारा को विश्वास हो गया कि पतिदेव हाथ से गए। थोड़ी देर

चित्रवत् बैठी रही, इसके बाद ठंडी साँस भरकर बोली—"मगर वह तुम्हारी कौन है, जिसके कारण घर में यह महाभारत शुरू कर रहे हो ?"

द्वारका०—"वह मेरी बहन है।"

तारा—"माँ-जाई तो नहीं।"

द्वारका०—मगर मुँह-बोली तो है। उसका दर्जा माँ-जाई भी ऊँचा है। यह धर्म-सूत्र है, वह रक्त का बन्धन है। मैं उसके लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ।"

तारा बैठी हुई थी, यह सुनकर खड़ी हो गई और चिल्लाकर बोली—"तुम्हारी यह धौंस न चलेगी। मैं भी इसी दुनिया में पली हूँ। मुझे तुम्हारा मन साफ़ नहीं मालूम होता।"

द्वारकादास के क्रोध पर इन शब्दों ने वही काम किया, जो ईंधन आग पर करता है। उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं, मगर उन्होंने मुँह से कुछ न कहा। करवट बदली और ऐसा प्रकट किया कि नींद आ गई है। क्रोध के बाद चुप्पी ज्ञान-सूचक, सजीव एवं सशब्द होती है।

अब तारा को अपनी भूल का ज्ञान हुआ। रह-रह कर दिल में पछता रही थी कि मेरे मुँह में आग लग जाए, मुफ्त में कहाँ का झगड़ा खड़ा कर दिया। जीभ बस में रहती तो बात यहाँ तक न बढ़ती। उसने धीरे-धीरे आगे बढ़कर द्वारकादास के शरीर पर हाथ फेरकर मधुर स्वर में कहा—"मुझ से बड़ी मूर्खता हो गई। अब माफ़ कर दो, फिर भूल न होगी।"

ये शब्द नहीं थे, शर्बत के घूंट थे। द्वारकादास का क्रोध जाता रहा। एकाएक इस शर्बत में कड़वापन आ गया, तारा के हृदय-वेधी शब्द याद आ गए। द्वारकादास ने तारा का हाथ परे हटाकर जवाब दिया—"मेरा मन खोटा है, मुझ से माफ़ी कैसी ?"

तारा निराश होकर उठ गई और अपनी चारपाई पर जा लेटी। मगर देर तक नींद न आई। द्वारकादास की भी यही दशा थी। दोनों

अपने क्रोध पर लज्जित थे, दोनों चाहते थे कि मेल हो जाए, मगर अभिमान ने मुँह पकड़ लिया। इसी तरह रात बीत गई। दोनों उठे, परन्तु रोज़ की तरह प्रफुल्लित-हृदय नहीं, किन्तु मुँह फुलाए हुए। आज द्वारकादास ने न तारा से तौलिया मांगा, न साबुन, न तेल। नौकर से कहकर ये सारी चीज़ें मंगवा लीं और जल्दी-जल्दी नहा लिया। यह देखकर तारा उदास हो गई। उसके लिये यह ऐसी सख्त सज़ा थी जिसके सामने वह मारपीट की भी परवा न करती। मगर उसने मुँह से कुछ न कहा। चुपचाप बैठी एक पुस्तक के चित्र देखती रही। पर उसका मन इन चित्रों में न था। इतने में द्वारकादास ने कपड़े पहने और छड़ी हाथ में लेकर दुकान को चले गए। तारा ने सोचा दोपहर को आवेंगे, तब मना लूंगी। वह मेरे स्वामी हैं, कोई बेगाने नहीं। उनसे संकोच कैसा? मगर द्वारकादास उस दिन घर नहीं आए। रोटी लाने के लिए नौकर को भेज दिया। तारा ने अपने रूठे पति को मनाने के लिए कई अच्छी-अच्छी चीजें पकाई थीं, कई बातें सोची थीं। परन्तु कोई काम न आइ। तारा हताश हो गई—क्या अब मेल न होगा? लड़ाई सभी के यहाँ होती है, पर ऐसी नहीं कि दिल में मैल आ जाए। फिर भी उसने सारी चीज़ें थाल में सजाकर रखीं और सफ़ेद तौलिये से ढक कर भेज दी।

यह थाल न था, सुलह का सन्देश था। द्वारकादास सब कुछ समझ गए। परन्तु उन्होंने केवल तीन चपातियां खाईं, और दाल-भाजी। इसके सिवा और किसी चीज़ को हाथ भी न लगाया। आम-मुरब्बा, खरबूज़ा-अचार आदि सब उसी तरह पड़े रहे। तारा बड़े शौक से खाना खाने बैठी थी। थाल देखकर उसका दिल छोटा हो गया। उसने खाना छोड़ दिया और जाकर पलंग पर लेट गई। सुलह की प्रार्थना स्वीकार नहीं हुई।

इसी तरह तीन-चार दिन बीत गए। दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़े रहे, यहाँ तक कि चौथे दिन द्वारकादास को बुख़ार चढ़ गया। पता नहीं, गर्मी से या आन्तरिक कष्ट से, मगर द्वारकादास को इससे

हार्दिक प्रसन्नता हुई। जैसे यह बुख़ार बुख़ार नहीं था, उनके विजय की पूर्व सूचना थी। सोचने लगे, अब देखता हूँ तारा कैसे तनी रहती है? कैसे मुँह फुलाए बैठी रहती है? सुनेगी, तो होश उड़ जायेंगे। दौड़ी हुई आएगी। सारा घमण्ड मिट्टी में मिल जायेगा। हाथ जोड़ेगी, मिन्नतें करेगी।

ऐसा ही हुआ भी। तारा घबरा गई। अब वह कैसे रूठी रहती? उसका पति बीमार है। उसे आन प्यारी थी, पर पति आन से भी प्यारा था। वह उड़ती हुई पति के पास आई और उनकी तरफ़ ताकने लगी। इस समय उसको ऐसा मालूम हुआ, जैसे द्वारकादास बहुत दुर्बल हो हो गए हैं। ख्याल आया यह मेरी करतूत है। वह उनकी चारपाई पर बैठ गई और उनके माथे पर हाथ फेरने लगी। इसके बाद उसने उनका मुँह अपनी तरफ किया और आँखों में आँसू भरकर कहा—"क्या अब यह क्रोध न उतरेगा? मेरी जीभ जल जाए! क्रोध में जो जी में आया बक गई, अब बैठी पछता रही हूँ।"

द्वारकादास यह सुनकर अपने को न संभाल सके। उनकी आँखों में भी आँसू आ गए। उन्होंने तारा को गले से लगा लिया और रोने लगे।

(६)

ग़रीबों के यहाँ रोग बढ़ जाए तो डाक्टर आता है। अमीरों के यहाँ रोग बढ़ जाए तो सम्बन्धी आते हैं। जहाँ डाक्टर का आना साधारण बात है, वहाँ सम्बन्धी लोग सहज ही में जमा हो जाते हैं।

द्वारकादास बीमार हुए तो डाक्टर दोनों वक्त आने लगा। मगर रोग कम न हुआ, उलटा बढ़ गया,। यहाँ तक कि तीन दिन गुज़र गए और बुख़ार न उतरा। द्वारकादास दिन-दिन भर बेहोश रहने लगे। तारा उनके पास बैठी रोया करती थी। इस रोने से उसके दिल का गुबार निकल जाता था। मगर इस गुबार और द्वारकादास के बुख़ार में

कोई सम्बन्ध न था। उस पर कोई प्रभाव न पड़ा। इसके बाद रोग भयानक हो गया। द्वारकादास बकने-झकने लगे। तारा के दिल में बुरे-बुरे विचार उठे। हम जिन्हें प्यार करते हैं, उनके बारे में हमें प्रायः भयंकर आशंकाएँ ही सताती हैं। बेगानों के संबंध में ऐसे विचार हमारे मन में कभी नहीं आते।

कुछ दिनों के बाद रोग और भी बढ़ गया। अब द्वारकादास किसी को न पहचानते थे; बेहोशी में बड़बड़ाया करते, कभी कहते—जमना मेरी बहन है, ऐसी बहन दुनिया में किसी और की न होगी। मगर मेरी स्त्री को क्या कहा जाय, उसे कुछ और ही सन्देह है। कभी कहते तारा अब तो प्रसन्न होगी, जमना ने तेरे यहाँ आने से इनकार कर दिया है। कभी कहते, मैं जमना को न बुलाऊँगा, तारा अप्रसन्न हो जायगी।

तारा यह बातें सुनती, तो उसके कलेजे में भाले चुभ जाते, आँखें सजल हो जातीं। सोचती, इस रोग का मूल-कारण मैं ही हूँ। मुझे क्या मालूम था कि मेरी बातें इन के मन को लग जायेंगी। जानती तो होंठ सी लेती। अब उन बातों को कैसे लौटाऊँ? वह जबान की कठोर थी, पर उसका दिल प्रेम से भरा था, जैसे मीठे और ठंडे जल का सोता सख्त पत्थरों के तले छिप कर बहता है।

दोपहर का समय था, तारा द्वारकादास के पास बैठी चिंता-सागर में गोते खा रही थी। इतने में द्वारकादास ने करवट बदली और बोले—"तू कौन है?"

तारा का सिर चकराने लगा। क्या अब यहाँ तक नौबत आ गई। घबरा कर बोली—"मैं तारा हूँ।"

द्वारकादास ने उसकी तरफ देखा। मगर इस तरह जैसे कोई पाग़ल हवा की तरफ़ देखता है, और नहीं समझता कि मैंने क्या देखा। इसके बाद उन्होंने फिर करवट बदली और सो गए।

जिस तरह कुदाल की चोट से चट्टान टुकड़े-टुकड़े हो जाती है और पानी का फव्वारा बाहर आ जाता है, उसी तरह द्वारकादास की नैराश्य-

उत्पादक दशा से तारा की कठोरता काफ़ूर हो गई और प्यार का पानी बाहर आ गया। इस जल-धारा के सामने ईंट-पत्थर कब तक ठहर सकते हैं—कितनी देर?

तारा ने उसी समय नौकर को बुलाकर कहा—"गाड़ी लेकर मुरादपुर जा। वहाँ इनके मित्र चन्दूलाल रहते हैं। उन्हें और उनकी स्त्री जमना को साथ ले आ। कहना, कई दिन से बेसुध पड़े हैं और बहन-बहन पुकार रहे हैं। जब तक तुम न आओगे, अच्छे न होंगे।"

तीन ही मील की दूरी थी, आने-जाने में देर न लगी। चार बजते-बजते चन्दूलाल और जमना दोनों द्वारकादास के यहाँ आ पहुँचे। तारा ने उनको देखा तो उसकी जान में जान आ गई। उसे विश्वास हो गया कि अब इनके स्वस्थ होने में देर नहीं। एक आध दिन में उठ खड़े होंगे।

जमना देहाती रमणी थी। उसकी शक्ल सूरत तारा को पसन्द न आई। मगर उसने इसकी परवा न की। उसके गले लगकर बोली—"देखो तो, क्या हो गया है? दिन-रात तुम्हें बुलाते रहते हैं।"

जमना—"तुमने पहले खबर क्यों नहीं दी? अचरज की बात है! भाई इतना बीमार हो और बहन को ख़बर तक न भेजी जाए।"

तारा—"मैंने सोचा था मुफ्त में कष्ट क्यों दूं।"

जमना—"मालूम होता है, तुम अभी तक मुझे पराया ही समझती हो?"

तारा—"पराया कैसे समझ सकती हूँ? उनकी बहन को पराया समझूंगी तो रहूँगी कहाँ?"

जमना—"शहर की रहने वाली बातें करना खूब जानती हैं। मैं अनपढ़ देहातिन तुम से पार न पा सकूंगी।"

तारा—"कुछ दिन ठहर जाओ, तुम्हें भी बातें आ जाएंगी। मगर पहले अपने भाई को चारपाई से उठा लो।"

जमना—"मैं पापिन कौन हूँ, परमात्मा उठावेगा।"

यह कहते-कहते जमना की आँखों में आँसू आ गए। इस समय तक चन्दूलाल द्वारकादास को झुके हुए देख रहे थे। वह जमना से बोले—"इन्हें कहो, हमें दवा देने का समय आदि समझा दें, और जाकर आराम करें। अब हम आ गए हैं, इन्हें कष्ट न होगा। मालूम होता है, कई रातों से जाग रही हैं। कहीं स्वयं भी बीमार न हो जाएं।"

तारा ने उनको सब कुछ समझा दिया और स्वयं उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करने चली। इस समय वह ऐसी खुश थी, जैसे किसी को डूबा हुआ धन मिल गया हो। अब उसे कोई आशंका, कोई चिन्ता न थी, मानो जमना क्या आई, कोई सिविल-सरजन आ गया। मगर द्वारकादास का रोग साधारण न था, तीन महीने चारपाई से नहीं उठे।

इस बीच में जमना ने जिस प्यार, परिश्रम और आत्मसमर्पण का परिचय दिया, उसे देखकर तारा दंग रह गई। उसे खाने-पीने की सुध न थी, विश्राम की इच्छा न थी। कुरसी पर बैठी-बैठी ऊंघ लेती; कहती, सो गई तो दवा देने का समय निकल जाएगा। ऐसी सावधानी से किसी माँ ने अपने पुत्र का भी इलाज न किया होगा। तारा का सब सन्देह निर्मूल सिद्ध हुआ। संसारी जीवों की पापमयी वासना में यह स्थिरता, यह भावना, यह श्रद्धा कहाँ? वह खोटे सोने के समान चमकती तो बहुत हैं, परन्तु परीक्षा की आग में पड़कर यह चमक स्थिर नहीं रहती। तारा की कूटनीति ने जिसे पीतल समझा था, वह खरा सोना निकला। तारा ने शान्ति की साँस ली।

(७)

द्वारकादास स्वस्थ हो गये। तारा, जमना और चन्दूलाल ऐसे खुश थे, जैसे विद्यार्थी परीक्षा में पास होकर खुश होता है। उनकी चेष्टाएं सफल हो गई थीं। उन्होंने मरता हुआ रोगी बचा लिया था। अब उनके होठों पर हँसी थी, आँखों में ज्योति। चारों तरफ चहकते फिरते

थे, जैसे पक्षी फलों की डालियों पर चहकते हैं। अब यह घर किसी रोगी का कमरा न था जहाँ ऊँची आवाज़ से बोलना बुरा समझा जाय, वरन् ब्याह वाला घर था जहाँ आठों पहर चहल-पहल रहती है। सब द्वारकादास की चारपाई के गिर्द कुरसियाँ डालकर बैठ जाते और ताश उड़ाते। पहले तारा चन्दूलाल को देखती तो दौड़कर छिप जाती थी, मगर अब वह परदा न रहा और जमना ने तो उसके दिल में घर ही कर लिया था। वह छाया के समान उसके साथ रहती और कहती, तू चली जायगी तो मैं क्या करूँगी ? जमना उत्तर देती, अपने बलमू से प्यार करेगी और क्या करेगी ? इसके जवाब में तारा का मुँह बन्द हो जाता। इसी तरह कुछ दिन और बीत गए। अब द्वारकादास चलने-फिरने के योग्य थे। शरीर में बल आ गया, चेहरे पर लाली। चन्दूलाल और जमना चलने की तैयारियाँ करने लगे। तारा ने यह सुना तो घबरा गई। जमना के गुणों ने उसका मन मुग्ध कर लिया था। रात को वह पति से बोली—"जमना जाने को कहती है।"

द्वारका०—"ठीक कहती है। तीन महीने हो गए, अब कब तक बैठे रहें ? छुट्टी दे दो।"

तारा—"पर मेरा दिल कैसे मानेगा ?"

द्वारका०—"उसे मैं मनालूँगा।"

तारा लजा गई, बोली—"आप तो छेड़ते हैं।"

द्वारका०—"नहीं तारा ! मैं हँसी नहीं करता। तुम आप ही सोचो, पराए घर में कब तक बैठे रहें।"

तारा—"यह घर उनका अपना है, पराया नहीं। मैं जमना को अपनी ननद समझती हूँ।"

द्वारकादास के रोम-रोम में खुशी की लहर दौड़ गई। साहस से बोले—"बहनों को भी अपनी सुसराल जाना ही पड़ता है। अपने घर में राजकुमारियाँ भी नहीं रहतीं।"

तारा—"सुसराल भेजना चाहते हो तो फिर उसी ढंग से भेजो।"

द्वारकादास चौंक पड़े। थोड़ी देर बाद बोले—"तारा तुम्हारा! मतलब क्या है?"

तारा—"इस समय सस्ते न छूटोगे। तुमने उसे बहन बनाया है। वह तुम्हारे यहाँ पहली बार आई है। यों समझो कि उसका गौना है। चार पैसे दिए बिना भेज दोगे तो वह अपने मन में क्या कहेगी?"

द्वारकादास को ऐसा मालूम हुआ, जैसे आँखों से परदा हट गया हो। उन्हें आज पहली बार ज्ञान हुआ कि उन्होंने तारा को पहचानने में कैसी भूल की थी। उनका ख्याल था कि तारा संकुचित-हृदय, भाव-रहित, सूम एवं प्रेम-विहीना स्त्री है। मगर आज वही स्त्री कैसी विशाल-हृदया, स्नेहमयी और साहसवती प्रतीत होती थी। उसके एक-एक शब्द में प्रेम की सुगन्ध थी, उसे आन की परवा थी, पैसे की परवा न थी। पर द्वारकादास अधीर नहीं हो गए, न उन्होंने अपने हार्दिक भावों को प्रकट किया। धीरे से बोले—"बहुत खर्च करना पड़ेगा!"

तारा—"परन्तु इसके बिना काम भी नहीं चलेगा।"

द्वारका०—"जानती हो, आज-कल कार-बार का हाल भी सन्तोष-जनक नहीं है।"

तारा—"रोटी तो खाते हैं।"

द्वारका—"चुप हो रहें, तो कैसा हो?"

तारा—"नाक कट जायगी। गाँव भर में सब जानते हैं कि जमना अपने भाई के यहाँ आई है। जब खाली हाथ देखेंगे, तो क्या कहेंगे? यही कि बस, इसी हौसले पर भाई बने थे? इन वाग्बाणों से जमना के दिल पर क्या गुज़रेगी? सुनकर रोने लगेगी।"

द्वारकादास जाल बिछाते जाते थे और तारा भोले कबूतर के समान उसमें फँसती जाती थी। उन्होंने किसी असहाय की तरह सिर हिलाया और कहा—"तारा! बुरे फँसे।"

तारा—"अब तो कुछ करना ही पड़ेगा।"

द्वारका०—"तुम्हारी सम्मति में कुछ देना चाहिए, चालीस-पचास रुपये दे दें ?"

तारा—"ज़रा अपनी हैसियत देख लो। लोग कहेंगे, नाम बड़े और दर्शन छोटे।"

द्वारका०—"तोबा! अब न बोलूँगा। तुम जो चाहो, दे दो। केवल मैं ही भाई नहीं हूँ, तुम भी भाभी हो।"

यह सुनकर तारा को ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी ने राजसिंहासन पर चढ़ा दिया हो। कुछ सोचकर बोली—"कम से कम दो-तीन आभूषण होंगे, ढाई-तीन सौ रुपये के।"

द्वारका०—"और ?"

तारा—"सात जोड़े रेशमी, इक्कीस जोड़े सूती।"

द्वारका०—"राम-राम!"

तारा—"कुछ बर्तन भी होंगे।"

द्वारका०—"तुम मेरा दिवाला निकलवा दोगी ?"

तारा—"चन्दूलाल के कपड़े अलग रहे। वह आप बनवा दें, मैं उसमें दख़ल न दूँगी।"

द्वारका०—"तो कुछ दिन और रोक लो, यह सब कुछ एक-आध दिन में तैयार न होगा।"

तारा—"इसकी चिंता न करें। जमना की इतनी मजाल नहीं कि मुझसे पूछे बिना चली जाए।"

एक सप्ताह और बीत गया।

आज चन्दूलाल और जमना के चलने का दिन है। सबकी आँखों में वियोग के आँसू भरे हुए हैं। जमना तो फूट-फूटकर रो रही है, जैसे लड़की ब्याह के बाद जाते समय रोती है।

चन्दूलाल कभी उन चीज़ों को देखते, कभी द्वारकादास को। वह हैरान हो रहे थे। पड़ोसी कहते, द्वारकादास को शाबाश है। कलजुग में लोग इतना अपनी सगी बहनों को भी नहीं देते।

इतने में तांगा दरवाज़े पर आ गया। जमना तारा के गले से लिपटकर रोने लगी। इस रोने में कितनी वेदना थी, कितनी व्यथा, उसे कोई बहन ही समझ सकती है। तारा के दिल में भाव-सागर उमड़ा हुआ था। वह सोचती—यह वही स्त्री है जिसने मेरे स्वामी की सेवा की है, उनको मौत के मुँह से खींचा है; जिसे मेरा पति अपनी बहन समझता है; चाहता है, प्यार करता है। आज वह बिछुड़ रही है।

जमना की निष्काम सेवा ने पहले द्वारकादास को वशीभूत किया था, अब तारा भी उसका दम भरने लगी। यह सब प्रेम का चमत्कार है, इसी स्वर्गीय शक्ति का जादू है। इसमें पड़कर राक्षस भी देवता बन जाते हैं। तारा तो फिर भी संसारी स्त्री थी।

तारा से मिलकर जमना द्वारकादास के गले मिली और फिर फूट-फूट कर रोई। द्वारकादास भी रो रहे थे। आखिर उन्होंने बड़े आग्रह से चुप कराया और कहा—"तो, अब गाड़ी में बैठ जाओ विलम्ब हो रहा है।"

जमना ने दुपट्टे के आंचल से आंसू पोंछते हुए कहा—"मगर यह तुमने बहुत तकलीफ की। इसकी कोई जरूरत न थी।"

द्वारका०—"परमात्मा करे, हम सदा इसी तरह करते रहें।"

जमना—"देखो भाई! मैं तुम से मन की बात कहती हूँ। मैं पैसे की नहीं, प्यार की भूखी हूँ। मुझे पैसा दो या न दो, मगर कभी-कभी मिलते रहना। यह तुम्हारी बहन का अनुरोध है।"

द्वारका०—"जो अपनी बहन को भूल जाये, उसका कहां भला होगा?"

जमना—"पर यह ऋण तो मुझ से न उतरेगा।"

द्वारका०—"यह ऋण नहीं, मेरे धर्म-सूत्र की पूर्ति है। तुम्हारी सेवा-सत्कार का बदला देना मेरी शक्ति के बाहर है।"

तारा ने मुस्कराकर कहा—"जंगल की मैना को शहर का पानी लग गया, अब भी न बोले!"

जमना ने हँस कर तारा की तरफ देखा, मगर प्रेम के इस सुखद कटाक्ष का जवाब न दिया। द्वारकादास को लक्ष्य करके बोली—"जिसने अपने बीमार भाई की सेवा न की, वह बहन कहाने योग्य नहीं।"

द्वारका०—"मुरादपुर का खाना कभी न भूलेगा।"

जमना—"क्या बातें करते हो, वह तो विदुर का शाक था।"

द्वारका०—"और वह पंखा?"

जमना चौंक पड़ी। उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई गुप्त रहस्य प्रकट हो गया हो। प्रकाश-पूर्ण लज्जा ने चेहरा लाल कर दिया। उसने केवल 'अरे' कहा, और इससे अधिक कुछ न कह सकी। द्वारकादास और तारा, दोनों हँसने लगे।

जमना ने तारा से कहा—"तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया है। इस बात का एक बार भी ज़िक्र नहीं किया। किया होता तो मैं सावधान हो जाती।"

तारा—मुझे तुम्हारे भाई ने मना कर दिया था। मैं समझती न थी। इसमें छिपाने की क्या बात है? मगर इस समय मज़ा आ गया, वर्ना तुम्हारा मुँह बन्द न होता।"

ताँगा चलने लगा।

परिवर्तन

किसी नगर में एक बेपरवा, अभिमानी नवयुवक रहता था। उसका नाम सईद था।

वह बड़ा ही सुन्दर था—उसका रंग गोरा था, चेहरा-मोहरा भी अच्छा था और आँखों में मोहनी थी।

परन्तु वह मूर्ख था।

(२)

जब वह बाज़ार जाता था तो रास्ते में एक बूढ़े फ़क़ीर को देखकर हँसा करता था।

उसकी कमर झुक गई थी, उसके सिर के, दाढ़ी के और मूछों के बाल सफ़ेद हो चुके थे और आँखों में यौवन की चमक के स्थान में बुढ़ापे की उदासीनता थी।

वह बूढ़ा था।

और सईद उसे देखकर हँसा करता था।

(३)

एक दिन सईद ने स्वप्न में देखा कि वह बूढ़ा हो गया है और उसकी कमर झुक गई है। उसके सिर के, दाढ़ी के और मूछों के बाल सफेद हो चुके हैं और आँखों में यौवन की ज्योति के स्थान में बुढ़ापे की उदासीनता आ गई है।

जब वह जागा तो अपने स्वप्न पर देर तक हँसता रहा।

परन्तु बाज़ार जाते समय सहसा उसने बूढ़े फ़क़ीर के निस्तेज मुख के दर्पण में अपनी जवानी की छाया देखी और उसे पहचानने में देर न लगी।

और सईद वहाँ रुक गया और उस फ़क़ीर को देखकर उसके होठों की हँसी होठों पर मर गई।

(४)

किसी नगर में एक युवक रहता है।

उसका नाम सईद है।

वह बड़ा ही सुन्दर है—उसका रंग गोरा है। चेहरा-मोहरा भी अच्छा है और आँखों में मोहनी है।

परन्तु अब वह मूर्ख नहीं रहा, न वह किसी बूढे को देखकर हँसता है।

अमर जीवन

बाबू इन्द्रनाथ की लेखनी में जादू था। जब लिखने बैठते, साहित्य-सुधा की धाराएँ बह निकलतीं; जैसे पहाड़ों से मीठे जल की नदियाँ फूट निकलती हैं। उनकी आयु अधिक न थी। ज्यादा से ज्यादा पच्चीस साल के होंगे। मगर उनकी कविता और कल्पना देखकर जी खुश हो जाता था। साधारण से साधारण विषय भी लेते तो उसमें जान डाल देते। उनके निबन्ध पढ़ कर लोग मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। कहते—"मन मोह लेता है। उनकी उपमाएँ कैसी सुन्दर हैं, शब्द कैसे मधुर हैं, पाठक किसी दिव्य-लोक में पहुँच जाते हैं। यही जी चाहता है, पढ़ते ही रहें, कभी बस न करें।" उनकी रचना में मनोरंजन, सौन्दर्य, मोहनी सब कुछ था, और सब से बढ़ कर सादगी थी। वे अपने पाठकों पर बड़े-बड़े कठिन शब्दों से रोब न डालते थे। यह ढंग उन्हें कभी पसन्द न आता था। उन्हें जो कुछ कहना होता, सादे और सरल शब्दों में कह देते, और यही उनका सबसे बड़ा गुण था। एक वर्ष पहले लोग उनके नाम से भी परिचित न थे, और आज हिन्दी-साहित्य के कोने-कोने में उनके नाम का डंका बजता है। कोई छोटे से छोटा भी ग्राम ऐसा न होगा जिसमें 'भाव-सुषमा' और 'सोम-सागर' की एक-दो प्रतियाँ न हों। इन ग्रंथ-रत्नों को जो पढ़ता, उसी पर जादू हो जाता था।

परन्तु इन्द्रनाथ की आर्थिक दशा सन्तोषजनक न थी। इतनी सिर-

पच्ची करने के बाद भी उनको इतनी आय न होती थी कि चिन्ता-रहित जीवन बिता सकते। प्रायः दुःखी रहते और अपने देश की शोचनीय अवस्था पर रोया करते। किसे ख्याल था कि उनके प्रांत का सबसे बड़ा लेखक, सबसे प्यारा कविराज, पैसे-पैसे को मुहताज होगा। उनका प्रकाशक कमाता था, वे भूखों मरते थे। संसार का यह दुर्व्यवहार देखकर उनका दिल खट्टा हो जाता और कभी-कभी तो इतने जोश में आ जाते कि लिखे-लिखाए लेख फाड़ डालते, लेखनी तोड़ देते और कहते—"अब लिखने का कभी नाम भी न लूँगा।"

(२)

प्रातःकाल था। इन्द्रनाथ धूप में बैठे एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलटते हुए मुस्करा रहे थे। उनकी स्त्री मनोरमा से पूछा—"क्यों? क्या है, जो इतने खुश हो रहे हो?"

इन्द्रनाथ ने मनोरमा की तरफ़ प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखा और उत्तर दिया—"भाव-सुषमा की समालोचना है। बहुत प्रशंसा की है।"

मनोरमा के मन में उद्गार की गुदगुदी होने लगी। ज़रा आगे खिसक कर बोली—"प्रशंसा करते हैं, समझते ख़ाक भी नहीं।"

इन्द्रनाथ—"अरे!"

मनोरमा—"झूठ नहीं है। यहाँ के लोग मूर्ख हैं, तुम्हारी क़दर क्या जानें। भैंस के आगे वीणा बज रही है।"

इन्द्रनाथ—"मेरी रचना के गुण-दोष समझने वाले वास्तव में थोड़े हैं। सारे शहर में केवल एक व्यक्ति है, जिसे इन बारीकियों का ज्ञान है।"

मनोरमा—"कौन?"

इन्द्रनाथ—"तुम्हें डाह तो न होगा। वह एक स्त्री है, पर ऐसी योग्यता मैंने किसी पुरुष में भी नहीं देखी।"

मनोरमा को कुछ सन्देह हुआ। धीरे से बोली—"कौन है?"

इन्द्रनाथ—"श्रीमती मनोरमा देवी रानी। तुमने भी नाम तो सुना होगा।"

मनोरमा ने हँसकर मुँह फेर लिया और बोली—"जाओ, तुम तो हँसी करते हो।"

इन्द्रनाथ—"नहीं मनोरमा! वास्तव में मेरी यही सम्मति है।"

मनोरमा—"बस, कोई बनाना तुम से सीख जाए।"

इन्द्रनाथ—"मेरी हिम्मत तुम न बढ़ातीं तो मैं इतनी उन्नति कभी न करता।"

मनोरमा—"बड़ी पण्डिता हूँ न!"

इन्द्रनाथ—"यह मेरे दिल से पूछो। सोना अपना मूल्य नहीं जानता।"

मनोरमा—"मगर तुम खुशामद करना खूब जानते हो।"

इन्द्रनाथ—"समालोचना सुनोगी?"

मनोरमा—"सुनाओ।"

इन्द्रनाथ ने पढ़ना आरम्भ किया—

"भाव-सुषमा हमारे सामने है। हमने इसे पढ़ा, और कई दिन तक मन पर नशा-सा छाया रहा। ऐसा प्रतीत होता है मानो हम किसी दिव्य-लोक में आ पहुँचे हैं। इसमें सौन्दर्य है, इसमें सादगी है। इसमें स्वाभाविकता है, इसमें कल्पना है। इसमें माधुरी है, इसमें सरलता है। और क्या कहें—इसमें सब कुछ है।"

सहसा किसी ने नीचे से आवाज़ दी—"बाबू इन्द्रनाथ।"

इन्द्रनाथ और मनोरमा दोनों चौंक पड़े, जैसे किसी सुमधुर संगीत के बीच में कोई ऊँची आवाज़ से रोने लग जाए। उस समय रागी के दिल पर क्या गुज़रती है, यह वही समझता है। वह झुंझला उठता है, मरने-मारने को तैयार हो जाता है।

बाबू इन्द्रनाथ ने पत्रिका चारपाई पर रख दी, और नीचे गए। वापस आए, तो चेहरा उदास था, और आँखों में आँसू लहरा रहे थे।

मनोरमा ने पूछा—"कौन था ?"

इन्द्रनाथ—"मकान-मालिक था।"

मनोरमा का मुँह पीला हो गया। दुःखी होकर बोली—"क्या कहता था, यह तो बुरा पीछे पड़ा है। चार दिन भी सब्र नहीं करता।"

इन्द्रनाथ—"कहता है, अब तो नालिश ही करनी पड़ेगी।"

मनोरमा—"कितना किराया है ? तीन महीने का ?"

जब हमारे पास रुपया नहीं होता तब हम हिसाब नहीं करते। हिसाब करते हुए हमें डर लगता है। इन्द्रनाथ ने मनोरमा की बात को अनसुना कर दिया, और कहा—"जी चाहता है, कोई नौकरी कर लूँ। अब यह रोज़-रोज़ का अपमान नहीं सहा जाता। प्रशंसा करने को सभी हैं, सहायता करने को कोई भी नहीं। और खाली प्रशंसा से किसी का पेट कब भरा है ?"

मनोरमा ने अपने पति की ओर देखा और कहा—"कर देखो ! मगर तुम्हारा यह लिखने का चसका तो न छूटेगा। यह भी दूसरी शराब है।"

इन्द्रनाथ—"हुआ करे, छोड़ दूँगा। तुमने मुझे अभी समझा ही नहीं।"

मनोरमा—"खूब समझती हूँ। दफ्तर में काम कर सकोगे ?"

इन्द्रनाथ—"पैसे मिलेंगे तब क्यों न करूँगा।"

मनोरमा—"अफ़सरों की झिड़कियाँ सह सकोगे ?"

इन्द्रनाथ—"मकान-मालिक के तक़ाज़ों से तो जान बचेगी।"

मनोरमा—यदि किसी ने कह दिया—"अरे ! ये तो वही कविराज हैं जो साहित्यक्षेत्र में इतने प्रसिद्ध हैं, हमने समझा था कोई बड़ा आदमी होगा, यह तो साधारण मुंशी निकला। तब ?"

इन्द्रनाथ—"मैं समझूँगा, किसी दूसरे को कहते हैं। अब और क्या करूँ ? प्रकाशकों ने तो मेरे परिश्रम पर डाका मारने का निश्चय कर लिया है। कहते हैं, जब कोई ज्यादा न देगा तब झख मारकर

हमारी शर्तें स्वीकार करेगा। वे रुपया वाले हैं। रुपये का मूल्य समझते हैं। कला का मूल्य नहीं समझते। ऐसे स्वार्थी मुझे क्या दे सकेंगे? युरोप में होता तो सोने का महल खड़ा कर लिया होता। यहाँ अपने भाग्य को रो रहे हैं।"

मनोरमा—"तुम अपना दिल छोटा न करो। सब ठीक हो जाएगा।"

इन्द्रनाथ—"तो आज जाऊँ, लाला रंगीलाल से मिल आऊँ। मेरा दिल कहता है, काम बन जायगा। बड़े सज्जन हैं।"

मनोरमा—"ज़रा तारीफ़ कर देना। बड़े आदमी तो बातों से ही खुश हो जाते हैं।"

इन्द्रनाथ—"मुझे इस तरह पढ़ाने की ज़रूरत नहीं।"

मनोरमा—"यह काम हो जाए तो समझें, गंगा नहा लिया।"

इन्द्रनाथ—"उनका तो बहुत अधिकार है, चाहें तो आज ही नौकरी दे दें। उठो, कपड़े बदलवा दो। बहुत मैले हो गए हैं।"

मनोरमा ने उठकर सन्दूक खोला और कपड़े देखने लगी, परन्तु कपड़े धुलकर नहीं आए थे। मनोरमा के हृदय पर दूसरा आघात लगा। उसका मुँह हार्दिक वेदना से पीला पड़ गया। यह वही प्रसन्नवेदना, वही प्रफुल-हृदया मनोरमा थी, जिसके क़हक़हों से सारा मुहल्ला गूँजता रहता था, पर इस समय वह कितनी अशान्त, कैसी उदास थी! पंछी कभी फूल की डालियों पर बैठकर किलोलें करता है, कभी पंख समेटकर चुप-चाप अपने घोंसले में बैठ जाता है।

इन्द्रनाथ ने ठंडी आह भरी, और कहा—"मनोरमा! अब नहीं सहा जाता।"

यह वही प्रतिभा-सम्पन्न, सुप्रसिद्ध लेखक है जिसकी कविता देश के कोने-कोने में आदर-सम्मान से पढ़ी जाती है, जिसकी लेखनी की रचनाएँ पत्थर-दिलों को भी मोह लेती हैं, जिसकी शब्द-रचना को लोग तरसते हैं, जिसका नाम सुनकर लोग श्रद्धा-भाव से गरदन झुका देते हैं,

जिसके ग्रन्थ दुष्टात्माओं के लिए धर्म-उपदेशों से कम नहीं। आज वही पचास रुपये की नौकरी करने चला है। काव्य, कल्पना और कला की नगरी का राजा भीख माँगने निकला है।

मनोरमा ने अपने पति की यह हीन-दशा देखी, तो आह मार कर भूमि पर बैठ गई। इस समय उसके हृदय में एक ही विचार था—यह सिर किसी के सामने कैसे झुकेगा?

(३)

एक घंटे के बाद इन्द्रनाथ पे-आफिस के सुपरिंटेंडेंट लाला रंगीलाल के दफ्तर में थे। रंगीलाल एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उन्होंने बहुत तपाक के साथ उठकर इन्द्रनाथ से हाथ मिलाया, और माफी मांगते हुए कहा—"मुझे केवल पाँच मिनट की आज्ञा दीजिए।"

यह कह कर लाल रंगीलाल ने सामने पड़ी हुई कुरसी की तरफ इशारा किया, और अपनी पुस्तक पढ़ने में लीन हो गए। इन्द्रनाथ को यह व्यवहार अत्यन्त लज्जाजनक मालूम हुआ। उनको ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने खुल्लम-खुल्ला निरादर कर दिया हो। उनका चेहरा तमतमा उठा। ख्याल आया, कैसा असभ्य है। इसे अपने समय का ख्याल है, हमारे समय की परवा नहीं। और यदि अभी से यह दशा है तो नौकर हो जाने के बाद तो शायद द्वार पर प्रतीक्षा करनी होगी।

इन्द्रनाथ ने उठने का संकल्प किया, मगर एकाएक मकान-मलिक की अग्नि-मूर्ति याद आ गई। क्या फिर वही आंखें देखूँगा? क्या फिर वही धौंस सुनूँगा? इन्द्रनाथ चुपचाप बैठ गए जैसे हवा में उड़ते हुए क़ाग़ज़ों पर कोई लोहे का टुकड़ा धर दे। इन काग़ज़ों के टुकड़ों की लोहे के सम्मुख क्या शक्ति है! आत्मा को प्रकृति ने दबा लिया। यह प्रतीक्षा का समय इन्द्रनाथ के लिए आत्मिक यन्त्रणा का समय था। और जब लाल रंगीलाल ने पुस्तक समाप्त कर ली तब इन्द्रनाथ को ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरे में हवा का अभाव है, और उनका दम घुटा जा रहा

है। मगर रंगीलाल अपनी पढ़ी हुई पुस्तक के ध्यान में तन्मय थे। थोड़ी देर तक वे योग की सी अवस्था में आँखें बन्द किए पड़े रहे; फिर बड़बड़ाने लगे—"वाह वाह ! क्या कहना !! कितने-कितने ऊँचे विचार हैं, कैसे पवित्र भाव !!!"

इन्द्रनाथ उनकी ओर आँखें फाड़कर देखने लगे कि यह कहते क्या हैं ? रँगीलाल ने मेज़ पर झुक कर कहा—"फरमाइए जनाब ! क्या हुक्म है ?"

इतने में कमरे का द्वार खुला, बड़े साहब हाथ में टोप लिए हुए अन्दर आए। लाला रंगीलाल खड़े हो गए।

"गुड मार्निंग।"

"गुड मार्निंग ! यह किताब कैसा है ?"

रंगीलाल—"बहुत बढ़िया।"

साहब ने पुस्तक हाथ में लेकर दूसरे हाथ से उसके पन्ने उलटते हुए कहा—"टो आपको बहोट अचा मालूम हुआ।"

रंगीलाल—"अच्छा का सवाल नहीं, मैंने ऐसी पुस्तक हिन्दी में आज तक नहीं देखी।"

साहब—"इटना अचा है !"

रंगीलाल—"पढ़ने पर मज़ा मिल गया।"

साहब—"इंग्लिश में किस किताब के माफ़िक है ?"

रंगीलाल—"यह मैं नहीं जानता, पर पुस्तक बहुत अच्छी है।"

साहब—ड्रामा है क्या ?"

रंगीलाल—"नहीं साहब, 'पोयट्री' है।"

साहब—हिन्दी का पोयट्री क्या होगा ! 'रब्बिश' होगा।"

रंगीलाल—"यदि आप पढ़ सकते तो ऐसा कभी न कहते।"

सहसा इन्द्रनाथ की दृष्टि पुस्तक की कवर के तरफ गई तो वे चौंक पड़े। यह पुस्तक 'भाव-सुषमा' थी। उनका मन-मयूर नाचने लगा। उनका दिल गुलाब के फूल के समान खिल गया। वे अब इस दुनिया

में न थे, किसी और दुनिया में थे। उन्हें अब इस तुच्छ, निकृष्ट नश्वर दुनिया की मोहनी माया—दौलत की परवा न थी। सोचते थे, दौलत क्या है ? आती है, चली जाती है। यह उड़ती-फिरती चिड़िया है, जिसे पिंजरे में बन्द रखना असम्भव है। मेरे पास धन नहीं, धनवान् तो हैं। इस आदमी के दिल में मेरा कितना मान है, कैसी भक्ति-भावना है ? पुस्तक की ओर इस तरह देखता है, जैसे कोई भक्त अपने उपास्य-देव की ओर देखता हो। पढ़ता था जब आँखें चमकती थीं। मुझे इस दशा में देखेगा तो क्या कहेगा ? चौंक उठेगा। चकित रह जायेगा। उसे कभी आशा न होगी कि मैं भिखारी बनकर उसके सामने हाथ पसारूँगा। मैं उसके सामने आँखें न उठा सकूँगा। लज्जा से भूमि में गड़ जाऊँगा। मुझे नौकरी मिल जाएगी, पर आत्म-गौरव की दौलत जाती रहेगी। यह सौदा महंगा है। लोग आत्म-गौरव की ख़ातिर सर्वस्व लुटा देते हैं। क्या मैं चांदी के कुछ सिक्कों के लिये इस अनमोल धन से शून्य रह जाऊँगा ? नहीं, यह भूल होगी। मैं यह भूल कभी न करूँगा।

यह सोचकर इन्द्रनाथ धीरे से उठे, और द्वार खोल कर बाहर निकल आये। इस समय उनके मुँह पर आध्यात्मिक आभा थी, जो इस असार संसार में कम ही दिखाई देती है। उनकी आँखों में आत्म-सम्मान की ज्योति जलती थी, दिल में स्वर्गीय आनन्द का सागर लहरें मारता था। पहले आत्मा को प्रकृति ने पछाड़ा था, अब प्रकृति पर आत्मा ने विजय पाई। इन्द्रनाथ में वही सन्तोष था, वही त्याग, वही वैराग्य जो संन्यासियों की सम्पत्ति है, जिसके लिये योगी जंगलों में भटकते-फिरते हैं। घर पहुँचे तब ऐसे प्रसन्न थे, जैसे कुबेर का धन पा गये हों। मनोरमा बोली—मालूम होता है, काम बन गया।

इन्द्रनाथ—"आशा से भी अधिक।"

मनोरमा—"परमात्मा को धन्यवाद है कि उसने हमारी सुन ली। क्या महीना मिलेगा ?"

इन्द्रनाथ—"कुछ न पूछो, इस समय मेरा दिल बस में नहीं है।"

मनोरमा—"अरे! तो क्या मुझे भी न बताओगे?"

इन्द्रनाथ ने मनोरमा को सारी कहानी सुना दी और अन्त में कहा—"मनोरमा! मुझे नौकरी नहीं मिली, पर आत्मज्ञान मिल गया है। मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गए हैं। मैं अपने-आपको भूला हुआ था, आज मेरे हृदय-पट से परदा उठ गया है। मुझे मालूम हो गया है, कवि की पदवी कितनी महान्, कैसी उच्च है! वह दिलों के सिंहासन पर राज्य करता है, वह सोती हुई जाति को जगाता है, वह मरे हुए देश में नवजीवन का संचार करता है। दुनिया अपने लिये जीती है और अपने लिये मरती है, मगर कवि का सारा जीवन उपकार का जीवन है। वह गिरे हुये उत्साह को उठाता है, रोती हुई आँखों के आँसू पोंछता है और निराशा-वादियों के सम्मुख आशा का दिव्य दीपक रोशन करता है। दुनिया के लोग उत्पन्न होते हैं और मर जाते हैं, पर ऐसे जाति-निर्माता सदा ज़िन्दा रहते हैं, उन्हें कभी मौत नहीं आती। मैंने नौकरी नहीं की, यह अमर-जीवन ले लिया है। मनोरमा मेरा हाथ थामो, मेरी सहायता करो। इसमें सन्देह नहीं, तुम्हें कष्ट होगा, पर इसके बदले में जो आत्मिक आनन्द, जो सच्चा सुख प्राप्त होगा उसका मोल कौन समझ सकता है?"

मनोरमा ने श्रद्धा-भाव से अपने पति की ओर देखा और मुस्कराने लगी।

★

एथेन्स का सत्यार्थी

यह उस बीते हुए युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम सन्तान यूनान में उत्पन्न होती थी।

रात का समय था, काव्य और कला को कभी न भूलने वाली प्राचीन नगरी एथेन्स पर अन्धकार छाया हुआ था। चारों तरफ़ सन्नाटा था, चारों तरफ़ निस्तब्धता थी—सब बाज़ार खाली थे, सब गलियाँ निर्जन थीं और यह सुन्दर आबाद नगरी रात के अन्धेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी, जैसे किसी जंगल में धुँधली-सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उसके विद्वान् और विलासी बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बेसुध पड़े थे। रंग-शालाएँ खाली हो चुकी थीं, विलास-भवनों के दीपक बुझा दिए गए थे और द्वारपालों की आँखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुकी जाती थीं। परन्तु एक नवयुवक की आँखें नींद की शान्ति और शान्ति की नींद, दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिसकी आत्मा सत्यदर्शन की प्यासी थी। वह एक बड़े धनवान् का बेटा था, उसकी सम्पत्ति उसके लिए प्रत्येक प्रकार का विलास ख़रीद सकती थी, वह अत्यन्त मनोहर था, यूनान-माता

की सबसे सुन्दर बेटियाँ उसके प्रेम में पागल हो रही थीं। वह बहुत उच्च-कोटि का तत्व-वेत्ता था, उसकी साधारण युक्तियाँ भी अध्यापकों की पहुँच से बाहर थीं, परन्तु उसे इस पर भी शान्ति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने-आपको मिटा देने पर तुला हुआ था। वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मर्त्य-लोक की नाशवान् खुशियाँ उसके लिए अर्थहीन वस्तुएँ थीं। यौवन और सौन्दर्य की सजीव मूर्तियों में उसके लिए कोई आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को बेपरदा, नंगा देख ले। ऐसा नहीं, जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा जैसा वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिए सब कुछ करने को तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था, सोचता था और पढ़ता था। मगर उसके स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से उसके प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य का रोगी चिकित्सा से और ज़्यादा बीमार होता जाता था।

(२)

विद्यालय के विशाल आँगन में एक ऊँचा चबूतरा था, जिस पर पता नहीं कब से मिनरवा—ज्ञान और विवेक की देवी, संगमरमर के वस्त्र पहने खड़ी थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के हिम-समान पैरों के निकट आकर घण्टों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिन्तन किया करता था। यहाँ तक कि उसके मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया कि इसके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है। वे उसकी इस शोचनीय (?) दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था—"कृपा कर! ऐ विद्या और विज्ञान की सबसे बड़ी देवी! कृपा कर! मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर। मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूँ, मैंने कई रातें तेरे पैरों को अपने आँसुओं से धोने में काट दी

हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिए हैं। मेरी प्रार्थना को सुन और उसे स्वीकार कर।"

देवकुलीश यह कहकर खड़ा हो गया और देवी के तेज-पूर्ण मुख की तरफ़ देखने लगा, मगर वह उसी तरह चुपचाप खड़ी थी।

इतने में चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उसके सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश फिर मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के सदृश रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था, मानो वह संगमरमर की मूर्ति न थी, इस दुनिया की जीती-जागती स्त्री थी, जो सुनती भी है, बोलती भी है। बुद्धिमान् देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा—"आज की रात फैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग सुलगाई है, तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शान्त कर सकती है। सत्य कहाँ है?—अजर, अमर, अटल सत्य! वह सत्य जिस पर बुद्धिमान् लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिसका पण्डित चिन्तन करते हैं, जिसे लोग एकान्त में तलाश करते हैं, मन्दिरों में ढूँढ़ते हैं, जिसके लिए दूर-दूर भटकते हैं। मैं वह उच्च-कोटि का सत्य देखने का अभिलाषी हूँ। नहीं तो मैं चाँद की उज्ज्वल चाँदनी के सामने तेरे पवित्र पैरों की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह समाप्त कर दूँगा। मुझे सत्य-हीन जीवन की कोई आवश्यकता नहीं।"

यह कहकर देवकुलीश ने अपनी चादर के अन्दर से एक कटार निकाली और आत्म-हत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक सफेद पत्थर की मूर्ति सजीव हो गई। उसने देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली; उसे आँगन के एक अँधेरे कोने में फैंक दिया और कहा—देवकुलीश!

देवकुलीश कांपता हुआ खड़ा हो गया और आशा, आनन्द और सन्देह की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा, क्या यह सच है?

हाँ यह सच था, देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे—"देवकुलीश ! देवकुलीश !"—देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

"देवकुलीश ! मौत का मार्ग अन्धेरा है। तू मेरा पुजारी—मेरी आँखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिए यह असह्य है कि मेरे सामने कोई व्यक्ति आत्म-हत्या कर जाए। बोल ! क्या माँगता है ? मैं तेरी हर एक मनोकामना पूरी करने को तैयार हूँ।"

देवकुलीश का दिल सफलता के आनन्द से धड़क रहा था। उसके मुँह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया और श्रद्धाभाव से बोला—"पवित्र देवी ! मैं सत्य को उसके असली स्वरूप में देखना चाहता हूँ। नंगा, बेपरदा, खुला सत्य। और कुछ नहीं, बस सत्य !"

"तू सत्य को जानना चाहता है"—देवी के होंठों से आवाज़ आई—"तू आप सत्य है। यह आँगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूँ। आँखें खोल, सत्य संसार के चप्पे-चप्पे में मौजूद है।"

देवकुलीश—"मगर उस पर परदे पड़े हुए हैं।"

देवी—"विवेक की आँख उन परदों के अन्दर का दृश्य भी देख सकती है।"

देवकुलीश—"पवित्र माता ! मैं सत्य को विवेक से नहीं, आँखों से देखना चाहता हूँ। मैं सोचकर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूँ।"

देवी ने अपना पत्थर का सफेद, ठंडा और भारी हाथ देवकुलीश के कन्धे पर रख दिया और मीठे स्वर में बोली—"बेपरदा, नंगा सत्य आज तक दुनिया के किसी बेटे ने नहीं देखा, न देवताओं ने किसी बेटे को यह वरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आँखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहाँ ? मेरा परामर्श है, यह ख्याल छोड़ दे और अपने लिए कोई और वस्तु माँग, मैं अभी, इसी जगह दूँगी।"

देवकुलीश—"यूनान की सबसे बड़ी देवी ! मैं केवल नंगा सत्य देखना चाहता हूँ और कुछ नहीं चाहता।"

देवी—"मगर इसका मूल्य······"

देवकुलीश—"जो कुछ तू मांगे।"

देवी—"धन दौलत, सौंदर्य, यश सब तुझ से छूट जायंगे। तुझे अपनी दुनिया को चाँद और सूरज के प्रकाश से भी वंचित करना होगा—शायद इस यत्न में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल ! क्या अब भी तू सत्य का नंगा रूप देखना चाहता है ?"

देवकुलीश—"मुझे सब कुछ स्वीकार है।"

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश—"परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मैं इसके लिए न त्याग सकूं।"

देवी ने फिर सिर उठाया और मुस्करा कर कहा—"बहुत अच्छा ! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जाएगा, सत्य का वास्तविक नंगा रूप तेरे सामने होगा; परन्तु एक बार नहीं, धीरे-धीरे चल ! आज सत्य का एक परदा उठा, बाकी एक वर्ष के बाद !"

(३)

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफेद पत्थर की चादर उतार कर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी के दोनों कन्धों पर परियों के से दो पर निकल आए। देवी ने पर खोले और हवा में उड़ने लगी। पहले शहर, मन्दिरों के कलश, पर्वत, फिर चांद, तारे, बादल सब नीचे रह गए। देवी देवकुलीश को लिए आकाश में उड़ी जा रही थी। थोड़ी देर बाद उसने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उसके पांव तले बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे से तारे के समान टमटमा रही है। और यह है वह दुनिया, जिसको वह इतना बड़ा समझ रहा था। मगर देवकुलीश का ध्यान इस ओर न था। उसने अपने पास छाया में

छिपी हुई एक धुंधली-सी चीज़ देखी और देवी से पूछा—"यह क्या है ?"

देवी—"यह सत्य है। यह छिपकर यहां रहता है। यहीं से तेरी ओर और अनगिनत दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है। इसी के धुंधले प्रकाश में बैठकर बुद्धिमान् लोग संसार की पहेलियां हल किया करते हैं, और गुरु अपने शिष्यों को जीवन की शिक्षा देते हैं। यही प्रकाश सृष्टि का सूरज है, यही ज्योति मानव-चरित्र का आदर्श है। तू कहेगा, यह तो कुछ ज्यादा प्रकाशमान् नहीं, परन्तु देवकुलीश ! तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उसकी सारी रेत का एक-एक कण एक-एक सूरज बन जाय, तब भी उसमें इतना प्रकाश न होगा, जितना इस पहाड़ की छाया में है, मगर वह परदों में छिपा हुआ है। चल, आगे बढ़ और इसका एक परदा फाड़ दे।"

देवकुलीश ने एक परदा फाड़ दिया। इसके साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे संसार में एक नवीन प्रकाश का प्रकाश फैल गया है। सच की छाया अब पहले से अधिक स्पष्ट और चमकदार थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेन्स में उड़ा लाई और अपनी संगमरमर की चादर ओढ़कर उसी चबूतरे पर उसी तरह चुपचाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चांदी और सोने का कोई मूल्य न था। वह लोगों को धन के पीछे भागते देखता तो उसे आश्चर्य होता था। वह चांदी को सफेद लोहा और सोने को पीला लोहा कहता था और इनकी प्राप्ति के लिए अपना परिश्रम नष्ट न करता था। उसे पढ़ने की धुन थी, दिन-रात पढ़ता रहता था। उसके बाप ने उसका साधु-स्वभाव देख कह दिया कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा, परन्तु देवकुलीश को इसकी ज़रा चिन्ता न थी। उसके मित्र-सम्बन्धी कहते—"देवकुलीश ! यह आयु जवानी और गरम खून की है। सफेद बालों और झुकी हुई कमर का युग आरम्भ होने से पहले-पहल कुछ जमा करले। नहीं, फिर बाद में पछताएगा।"

देवकुलीश उनकी तरफ़ अद्‌भुत दृष्टि से देखता और कहता—"तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ नहीं समझता।"

एथेन्स की एक बहुत अमीर की कुंवारी बेटी अब भी देवकुलीश से प्रेम करती थी। जब वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती थी तो अपने दिल में कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबन्ध भी वही करती थी। अन्यथा वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन समाप्त हो गए। रात का समय था, एथेन्स पर फिर अन्धकारपूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई। और देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ़ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उसकी आँखों को वह ज्ञान-चक्षु मिल गए जो यौवन और सुकुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे हुए बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी अज्ञान और अविद्या की दुनिया को वापस चला आया। देवी फिर संगमरमर का बुत बनकर अपने स्थान पर खड़ी हो गई।

(४)

एक दिन उसके एक मित्र ने कहा—"देवकुलीश! आज यूनान की सारी कुँवारी लड़कियां एथेन्स में जमा हैं और यूनान की सबसे सुन्दरी युवती को सौन्दर्य का पहला इनाम दिया जाएगा। क्या तू भी चलेगा?"

देवकुलीश ने उसकी ओर मुस्करा कर देखा और कहा—"सत्य वहां नहीं है।"

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा—"आज यूनान के सारे समझदार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उनसे मिलोगे?"

देवकुलीश ने ठण्डी आह भरकर जवाब दिया—"सत्य वहां भी नहीं है।"

तीसरे दिन एक महन्त ने कहा—"आज चांद देवी के बड़े मन्दिर

में देवताओं की पूजा होगी। क्या तुम भी आओगे?"

देवकुलीश ने लम्बी आह खींची और कहा—"सत्य वहाँ भी नहीं है।"

और इस तरह सत्यार्थी ने में जवानी के सारे प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा सन्त था, मगर वह एथेन्स के किसी मेले में नज़र न आता था, उसकी आवाज़ किसी सभा में सुनाई न देती थी।

देवकुलीश साल भर एकान्त में पढ़ता रहता और इसके बाद बादलों के पहाड़ पर जाकर सत्य का एक परदा फाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गए। उसका ज्ञान दिन पर दिन बढ़ता गया; मगर उसकी आँखें अन्दर धँस गई थीं, कमर झुक चुकी थी; सिर के सारे बाल सफ़ेद गए थे। उसने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे की भेंट कर दी थी। मगर उसे इसका दुःख न था; क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग यह समझते थे—देवकुलीश ने अपने लिए अपनी कुटिया को अपनी समाधि बना लिया है।

(५)

आख़िर वह प्यारी रात आ गई जिसकी प्रतीक्षा में देवकुलीश को अपने जीवन का एक-एक क्षण, एक-एक वर्ष एक-एक शताब्दी से भी लम्बा मालूम होता था।

आज सत्य के मुँह से अन्तिम परदा उठेगा। आज वह सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर पुत्र ने आज तक नहीं देखा। आज उसकी सबसे बड़ी साध पूरी हो जायगी।

आधी रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अन्तिम बार गोद में उठाया और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा—"देवकुलीश! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ़, कैसा तेज़

है। अब तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे। सत्य का एक ही परदा है, आगे बढ़ और उसे उतार दे, परन्तु अगर तू चाहे तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूँ। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ यौवन लौटाया जा सकता है। मुझ से कह, तेरे सिर के सफ़ेद बालों को छू कर फिर से काला कर दूँ। देवकुलीश! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।"

मगर शूर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना और आगे बढ़ा। उसका कलेजा धड़क रहा था, उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे, उसके हाथ काँप रहे थे, उसका सिर चकरा रहा था, मगर वह फिर भी आगे बढ़ा। उसने अपनी आत्मा और शरीर की सकल शक्तियाँ हाथों में जमा कीं और उन्हें फैलाकर सत्य का अन्तिम परदा फाड़ दिया।

ओ परमात्मा!

चारों ओर अन्धकार छा गया था, ऐसा भयानक अन्धकार जैसा इससे पूर्व देवकुलीश की आँखों ने कभी न देखा था। उसने चिल्लाकर कहा—"देवी माता! यह क्या हो गया? मुझे कुछ दिखाई नहीं देता, वह जो परदे के पीछे था, कहाँ चला गया?"

देवी ने मधुर स्वर से कहा—"देवकुलीश! देवकुलीश!!"

देवकुलीश ने अन्धेरे में टटोलते हुए कहा—"देवी! मुझे बता, वह कहाँ है? मैं कहाँ हूँ, तू कहाँ है?"

देवी ने अपना हाथ धीरे से उसके कन्धे पर रखा और बोली—"देवकुलीश! तेरी आँखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैंने तुझ से कहा था, यह विचार छोड़ दे, परन्तु तूने न माना और अब तूने देख लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता है, तो क्या देखता है। सत्य परदों के अन्दर ही से देखा जा

सकता है। जब उसका परदा उतार दिया जाता है तो मनुष्य वह देखता है जो कभी नहीं देख सकता।"

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुँह के बल गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा।

हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं, पर एथेन्स के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की घाटियों में जा सके, तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज़ आज भी उसी तरह सुनाई देगी।

अठन्नी का चोर

रसीला बाबू जगतरामसिंह इंजीनियर के यहां नौकर था। दस रुपए वेतन था। गाँव में उसके बुड्ढे पिता और जवान स्त्री के अतिरिक्त एक लड़की और दो लड़के थे। इन सबका भार उसी के कन्धों पर था। रसीला को जो तनख्वाह मिलती, वह सारी घर भेज दिया करता। उसमें से यह अपने लिये एक पैसा भी न रखता। मगर घरवालों का गुज़ारा फिर भी न होता। रो-रो कर पत्र लिखते, इतने में पूरा नहीं पड़ता, अधिक भेजो। रसीला यह हाल जानकर व्याकुल हो जाता। सोचता, क्या करते होंगे। उसने इंजीनियर साहब से वेतन-वृद्धि के लिए कई बार प्रार्थना की, पर इसका कुछ फल न हुआ। इंजीनियर साहब ने हर बार यही कहा—"मैं तनख्वाह न बढ़ाऊँगा, चाहे रहो, चाहे चले जाओ। अगर तुम्हें कोई ज्यादा दे तो चले जाओ। मैं तुम्हें जबरदस्ती नहीं रोकता। रसीला अनपढ़ था। उसे सभ्य-समाज का पानी न लगा था। वह रीति और नीति के गूढ़ रहस्य न समझता था। परन्तु वह मूर्ख न था। इतना जानता था कि दूसरी जगह जाना ठीक न होगा। सोचता, यहाँ आठ साल से नौकर हूँ, घरवालों में हिलमिल गया हूँ। अमीर घरों में लोग नौकर पर विश्वास नहीं करते, परन्तु यहां मुझ पर कभी किसी ने सन्देह नहीं किया। यहां से छोड़कर दूसरी जगह जाऊँगा तो मुझे कौन सौ-पचास की नौ   देगा। सम्भव है, कोई ग्यारह-बारह दे दे,

पर यह आदर न मिलेगा। रसीला को नौकरी छोड़ने का साहस न हुआ। बेबसी ने पांव बांध दिए। उसके मालिक के बंगले के पड़ोस में शेख़ सलीम उद्दीन जिला मैजिस्ट्रेट रहते थे। उनके चौकीदार मियां रमज़ान और रसीला में बहुत मैत्री थी। घंटों एक साथ बैठे रहते, बातें करते और तम्बाकू पीते। शेख़ साहब फलों के शौक़ीन थे; रमज़ान रसीला को फल देता। इंजीनियर साहब मिठाई के रसिया थे, रसीला रमज़ान को मिठाई देता। सादगी की इस मुरौवत में जो स्वर्गीय आनन्द है वह न धन-दौलत में है, न राजमहलों में। दोनों ग़रीब थे, दोनों नेक, एक-दूसरे से अपनी हर एक बात साफ़-साफ़ कह दिया करते। कभी-कभी उनमें युद्ध भी छिड़ जाता। इस समय उनकी जीभ ऐसी चलती, जैसे दरज़ी की कैंची। मगर युद्ध का समय ज्यादा न होता। प्रातःकाल लड़ते, सन्ध्या को सन्धि हो जाती, जैसे दरज़ी कपड़े फाड़कर सूई से सी लेता है, उस समय उस कपड़े में कैसी सुन्दरता होती है, कैसी आकर्षण-शक्ति! यही दशा इस जोड़ी की थी। उनकी लड़ाई पानी के बुलबुले थे, जो इधर बनते हैं उधर टूट जाते हैं। उनसे पानी की हानि नहीं होती, वरन् शोभा बढ़ जाती है।

(२)

एक दिन रमज़ान ने रसीला को उदास देखकर पूछा—"भाई साहब! यह चेहरे पर परेशानी कैसी?"

रसीला वास्तव में दुःखी था। परन्तु उसने अपना दुःख छिपाने का यत्न करते हुए उत्तर दिया—"मैं उदास क्यों होने लगा? तुम्हें भरम हुआ।"

"नहीं, मुझ से छिपाते हो।"

"भैया! तुम से मैंने आज तक कोई बात नहीं छिपाई।"

"पर अब तो छिपा रहे हो, तुम्हारा चेहरा कह रहा है।"

रसीला का हृदय रोता था, मगर उसने होंठों से मुस्कराकर कहा—"यह तुम्हारा भरम कैसे दूर हो?"

"गंगा मैया की सौगन्ध खाओ।"

रसीला की जीभ से उत्तर न निकला। पृथ्वी की ओर देखने लगा। रमज़ान बोला—"लो अब कह ही दो।"

रसीला ने धीरे-धीरे सिर उठाया और ठण्डी सांस भरकर बोला—"पूछकर क्या करोगे?"

"और न होगा, तुम्हारे दिल का भार तो हलका हो जाएगा।"

रसीला ने सिर झुका लिया, सोचने लगा, कहूँ या न कहूँ। पर न कहना असम्भव था। हम दबाव के सामने तन सकते हैं, मगर प्रीति और सहानुभूति के सामने खड़े होने का साहस किसमें है! रसीला ने रमज़ान का हठ देखा तो उसकी आंखें सजल हो गईं। रमज़ान के साथ उसका लहू का नाता न था, धर्म और जाति का नाता न था, परन्तु फिर भी वह उसका दुःख-दर्द बाँटने को अधीर हो रहा था। यह मनुष्यत्व का नाता था। रसीला चुप न रह सका। उसने रुककर कहा-"घर से ख़त आया है। बच्चे बीमार हैं, और रुपया नहीं।"

"तो लाला साहब से पेशगी माँग लो। ज़रूर दे देंगे।"

"माँग चुका, नहीं देते।"

"क्या कहते हैं?"

"कहते हैं बहाने बनाते हो, मैं एक पैसा भी न दूँगा। कैसा अभागा हूँ! वे वहाँ बीमार पड़े हैं, मैं यहाँ अपने प्रारब्ध को रोता हूँ, जो अभागे लोग का अन्तिम सहारा है।"

रमज़ान ने ठण्डी साँस भरी और कहा—"अल्लाह!"

"जी चाहता है उड़कर घर पहुँच जाऊँ।"

"अल्लाह ताला अपना फ़ज़ल करे।"

"कोई कलेजे में बैठा उसे मल रहा है।"

"खुदा का ध्यान करो।"

"पता नहीं उनका क्या हाल है। घबरा हे होंगे। थोड़े भी रुपये भेज देता तो उन्हें सन्तोष हो जाता।"

रमज़ान ने अब तक अपने-आपको रोका था, अब न रोक सका। सिर उठाकर बोला—"कितने रुपयों से तुम्हारा काम चल जायगा?"

रसीला चौंक पड़ा। आशा की किरण सामने दिखाई दी। कुछ आगे खिसककर बोला—"दुर्गामाता की सौगन्ध, इस समय तो पाँच रुपये भी पाँच मोहरों से कम नहीं हैं।"

रमज़ान उठकर खड़ा हो गया। इस समय उसका दिल सीने में इस तरह धड़क रहा था, जैसे कोई उसकी आँखों तले किसी बालक का वध कर रहा हो। उसने रसीला को ठहरने का संकेत किया और आप अपनी कोठरी में चला गया। थोड़ी देर के बाद उसने रुपये रसीला के हाथ पर रख दिए। रसीला के मुँह से कोई शब्द न निकला। वह उस समय कृतज्ञता की उस सीमा पर पहुँच चुका था, जहाँ आदमी को अपने भाव प्रकट करने को शब्द नहीं मिलते। उसने अपनी आँसुओं से भीगी हुई आँखें ऊपर उठाईं और आकाश की ओर देखकर सिर झुका लिया। दिल में सोचता था—बाबू साहब के पास रुपये-पैसे की कमी नहीं। यदि पेशगी दे देते तो मैं भाग न जाता। मैंने उनकी इतनी सेवा की है। क्या मेरा इतना भी अधिकार नहीं? रमज़ान ग़रीब आदमी है। उसके पास बहुत होगा, बीस-पच्चीस रुपये होंगे। परन्तु मेरे दुःखों में उसने मेरा हाथ थाम लिया। वह आदमी नहीं देवता है। मैं उसकी नेकी का क्या बदला दूँगा? दुर्गा माता उसका भला करे।

(३)

कई महीने बीत गए, रसीला के बाल-बच्चे स्वस्थ हो गए। उसने रमज़ान का ऋण चुका दिया है। अब उसके ज़िम्मे केवल आठ आने बाक़ी हैं। रमज़ान ने इन रुपयों के लिए कभी तगादा नहीं किया, न कभी उसका प्रसंग छेड़ा। वह इसे मनुष्यता से गिरा हुआ समझता था। मगर रसीला के दिल पर बोझ-सा पड़ा रहता था। उसके सामने उसकी आँखें न उठती थीं, न वह उससे खुलकर बात-चीत कर सकता था, यहाँ तक कि उसे अवकाश के समय शेख़ साहब के बंगले में

पाँव रखते भी लाज आती थी। कभी वह दिन थे, जब वह इस समय के लिए अधीर हो उठता था। तब वह किसी का ऋणी न था। अब उसे रमज़ान का ऋण चुकाना था। इसी लिए उसने थोड़ा-थोड़ा करते ४॥) चुका दिए थे। अब केवल ॥) बाक़ी थे।

तीसरे पहर का समय था। रसीला ने घर का काम-काज समाप्त किया और मियाँ रमज़ान से मिलने चला। लेकिन वह वहाँ न था। रसीला निराश होकर लौट आया और नहाने के कमरे में बैठकर हुक्का पीने लगा। यह कमरा लाला जगतरामसिंह के आफ़िस के पास ही था। हुक्का पीते-पीते उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे आफ़िस में कोई बात-चीत कर रहा हो। रसीला डर गया। इस समय लाला साहब मकान पर न होते थे। यह उनके दफ्तर का समय था। रसीला ने दरवाजे से कान लगा दिए और सुनने लगा। स्वयं इंजीनियर साहब थे, जो किसी से बात-चीत कर रहे थे। रसीला की सन्तुष्टि हो गई, मगर वह खड़ा ही रहा। छिपकर बातें सुनने में हमें मज़ा आता है। रसीला चौंक पड़ा, यह आदमी इंजीनियर साहब को रिश्वत देने आया था। उसे अपने कानों पर विश्वास न आता था, पर शब्द साफ़ थे—

"यह आप क्या दे रहे हैं मुझे?"

"पाँच सौ रुपया है।"

"इतनी थोड़ी रक़म मैं न लूँगा। यह मेरा अपमान है।"

"मैं आपका सेवक हूँ। यह रक़म नहीं, पान-सुपारी के लिए भेंट है। आप समझें आपने मेरा काम मुफ्त कर दिया। यह अहसान सारी उम्र न उतरेगा। जब तक जीता हूँ, हुज़ूर की जान को दुआ देता रहूँगा।"

लाला जगतराम ने धीरे से कहा—"ख़ैर, आपकी ख़ातिर लिए लेता हूँ।"

रसीला ने इन शब्दों को कुछ समझा, कुछ न समझा, परन्तु इनके अर्थ समझने में उसे देर न लगी। पाप और अत्याचार को मूर्ख

भी समझते हैं। उसे भय था कि कहीं कोई चोर लाला साहब के मकान पर हाथ न साफ़ कर रहा हो। परन्तु वहाँ तो स्वयं लाला साहब किसी भले आदमी को लूट रहे थे। रसीला ने आत्म-पतन का यह लोभमय दृश्य देखा तो उसके हृदय में असन्तोष का सोता खुल गया। सोचने लगा—रुपया कमाने का यह तरीक़ा कितना आसान है, कितना सीधा! इसके लिए लाला साहब ने परिश्रम नहीं किया, न दिमाग़ लड़ाया। आदमी घर बैठे लक्ष्मी दे गया। एक मैं हूँ कि सारा दिन मजदूरी करता हूँ और तब कहीं महीने भर के बाद दस रुपये हाथ आते हैं। पाप-सागर के इस भयंकर बहाव ने उसकी बरसों की ईमानदारी को इस तरह निगल लिया, जैसे दरिया की गरजती हुई लहरें किनारे की हरियाली को निगल जाती हैं। बहुत देर तक सिर झुकाए हुए वह अपने विचारों में लीन रहा और इसके बाद फिर रमज़ान की तरफ़ चला। इस समय रमज़ान बैठा सिगरेट पी रहा था। रसीला को देखते ही बोला—"भैया! आज कहाँ ग़ायब रहे?"

"कुछ न पूछो।"

"क्यों? ऐसी कौन-सी बात है?"

"दुनिया में अद्भुत बातें होती रहती हैं।"

"मगर बात भी कहोगे या पहेलियाँ ही बुझवाओगे?"

"मियाँ साहब, जीभ खोलते हुए भय लगता है।"

"तो मालूम होता है, हम पर ऐतबार नहीं।"

रसीला बोला—"यह तुम्हारा भरम है। तुम पर ऐतबार न होगा तो फिर किस पर होगा?"

"तो फिर छिपाते क्यों हो?"

रसीला ने चारों तरफ देखा कि कोई सुनता न हो, फिर धीरे से कहा—"किसी से कहोगे तो नहीं?"

"ज़बान खींच लेना!"

रसीला ने सारी बात सुनादी।

रमज़ान ने पूछा—"बस यही बात थी ?"

"हाँ भाई ! मैं इसे छोटी बात नहीं समझता ।"

रमज़ान ने रसीला की तरफ़ रहस्य-पूर्ण दृष्टिपात किया और बोला—"हमारे शेख़ साहब के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?"

"भगवान् जाने, हमने किसी का मन तो नहीं देखा । पर आदमी नेक मालूम होते हैं ।"

"तुम्हारे लाला साहब के गुरु हैं ।"

"तुम्हें मेरी सौगन्ध धोखा तो नहीं देते ।"

"आज भी एक शिकार फँसा है । हज़ार से कम में न तय होगा ।"

"तो ये लोग इसी तरह पैसा कमाते हैं ?"

"और क्या ? तनख्वाह पर रहें तो ऐसे बड़े-बड़े मकान कैसे खड़े कर लें । इस गुनाह का फल मिलेगा या नहीं, यह खुदा जाने, लेकिन इस दुनिया में तो मजे उड़ाते हैं ।"

(४)

रसीला सोचने लगा, आज तक मूर्खता की । मेरे हाथों सैकड़ों रुपये निकल गए, कभी धर्म नहीं बिगाड़ा । अगर एक-एक आना भी उड़ाता तो इस समय खासी रक़म जमा होती । आज जवान हूँ, कमाता हूँ, खा लेता हूँ । कल को बुड्ढा हो गया तो कौन देगा ? बाबू साहब तो लात मारकर बाहर निकाल देंगे । उस समय बैठा प्रारब्ध को रोऊँगा । धर्म की शोभा बहुत है, पर इससे कुछ मिलता नहीं । पाप का नाम बुरा है, पर जिसके साथ लगता है उसे पार उतार देता है । और फिर यह धर्म क्या केवल हम मजदूरों के लिए ही रह गया है ? इन अमीरों को भी तो कुछ खयाल करना चाहिए । जब ये कुछ परवाह नहीं करते तो हमीं क्यों करें ? आज तक बहुत किया, अब न करूँगा । इतने में लाला साहब ने उसे बुला कर कहा—"रसीला, यह लो दौड़कर पाँच रुपये की मिठाई ले आ ।"

रसीला को मौक़ा मिल गया। पाप आदमी के पास चलकर आता है। किसी को उसे खोजने की ज़रूरत नहीं पड़ती। रसीला ने साढ़े चार की मिठाई ख़रीदी और अठन्नी रमज़ान को दे दी। उसने समझा ऋण का भार उतर गया, पर पाप का भार कब उतरेगा, यह ख़्याल न किया। मनुष्य कितना अदूरदर्शी है! यह इस संसार के आज को देखता है, दूसरी दुनिया के कल को नहीं देखता। अगर देखे तो संसार स्वर्ग बन जाए।

बाबू जगतरामसिंह ने मिठाई देखी तो चौंक पड़े। रसीले पर सन्देह हुआ, बोले—"यह मिठाई कितने की है।"

रसीली का रंग उड़ गया। सोचा, क्या पहला ही पाप प्रकट हो जाएगा? परन्तु साहस कर बोला—"हजूर! पाँच रुपये की है।"

"सच कहते हो क्या? तुमने आज तक झूठ नहीं बोला, देखो, साफ़-साफ़ कह दो। साँच को आँच नहीं।"

"नहीं सरकार! मैं झूठ काहे को बोलूँगा। पूरे पाँच रुपये की है।"

मगर जगतरामसिंह को विश्वास न हुआ। रसीला के उड़े हुए रंग और सहमी हुई आँखों ने काम बिगाड़ दिया। नए पापी की जीभ झूठ बोल सकती है, परन्तु उसकी आँखें झूठ नहीं बोल सकतीं। उसके लिये संकल्प काफ़ी है, इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। रसीला झूठ बोल रहा था, परन्तु आँखें साथ न देती थीं। जगतरामसिंह सब कुछ समझ गए। उन्होंने कड़ककर कहा—"तू बकता है, यह मिठाई पाँच रुपये की कभी नहीं है।"

झूठा आदमी रोने पर बहुत जल्द उतर आता है। इस तरह हम दूसरों के कृपापात्र बन जाते हैं। रसीला भी रोने लगा। इंजीनियर साहब की स्त्री पर असर हो गया, बोली—"रहने भी दो, धमकाए जाते हो। ग़रीब ने कभी पैसा तक नहीं हिलाया।"

रसीला को सहारा मिल गया, जैसे किसी डूबते को किनारा मिल जाए। और भी ऊँची आवाज़ से रोने लगा। "दुहाई है सरकार की।

मैंने एक पैसा तक नहीं छेड़ा। पूरे पाँच की है।"

बाबू जगतरामसिंह ने रसीला के मुँह पर एक तमाचा मारा, और गरजकर बोले—"किस दुकान से लाया है?"

"दिल्ली वाले की दुकान से, जो बड़े चौक में है।"

"देखो, झूठ न बोलो। साफ़-साफ़ कह दो, माफ़ कर दूँगा"

"नहीं सरकार, मेरा दोष भी हो, मान कैसे लूँ?"

"तो मेरे साथ चलो, अभी सच-झूठ का निश्चय हो जाएगा।"

रसीला बाबू साहब के साथ चला। इस समय उसके पांव कांप रहे थे, परन्तु पांवों से अधिक उसका दिल काँप रहा था। वह चाहता था, किसी तरह बीता हुआ समय वापस आ जाय, मगर परमात्मा का यह अटल नियम कैसे बदल जाता। उसने राह में एक बार फिर कहा—"हजूर! मेरे शरीर पर कोढ़ फूटे, जो मैंने चोरी की हो।"

इंजीनियर साहब ने सुना-अनसुना कर दिया। झूठा बातें बहुत बनाता है, परन्तु उसमें दम नहीं होता। वह ज्यों-ज्यों घटना-स्थल के समीप पहुँचता है, बैठता जाता है। किन्तु सच घमण्ड से गर्दन उठाकर चलता है, उसे किसी का भय नहीं होता, न वह परीक्षा के समय पीछे हटता है। इंजीनियर साहब ने बेपरवाई से उत्तर दिया—"मेरे साथ चला आ। अब ये बातें हलवाई के सामने ही कहना।"

अब चारों रास्ते बन्द थे। रसीला को भागने का अवसर न मिला। वह सहसा रुक गया। इंजीनियर साहब ने क्रोध से कहा—"चलता क्यों नहीं?"

रसीला ने सिर झुका लिया और बोला—"वहां जाकर क्या करूंगा?"

इंजीनियर साहब ने उसे तीखी दृष्टि से देखकर पूछा—"तू अपनी चोरी मानता है?"

"अब जो कुछ वहां जाकर होना है, वह यहीं क्यों न हो जाय। सरकार माई-बाप हैं। यह ग़लती हो गई। अब के माफ कर दें, फिर ख़ता

हुई तो चमड़ी उतार लेना।"

"मिठाई कितने की थी?"

"साढ़े चार रुपये की। अठन्नी रमज़ान को दे दी। उससे पांच रुपये उधार लिए थे। बाकी तलब से दे दिये थे। आठ आने रहते थे, वह आज दे दिए।"

इंजीनियर साहब की आंखों से आग बरसने लगी। उन्होंने घर आकर रसीला को हाथों की पूरी शक्ति से मारा। ऐसी निर्दयता से धोबी मैले कपड़े को भी पत्थर पर न मारता होगा। रसीला ने कभी मार न खाई थी। यह इस तरह कराहता था जैसे बकरा क़साई के छुरे तले कराहता है। उसकी आवाज़ से पत्थरों में भी सूराख हो जाते, मगर इंजीनियर साहब को उस पर ज़रा दया न आई। यहां तक कि बेत को उसकी दशा पर दया आ गई और वह पुरज़ा पुरज़ा हो गया। इंजीनियर साहब ने हाथ रोक लिया, परन्तु उनका हृदय अब भी न रुका। उन्होंने रसीला को पुलिस के हवाले कर दिया और उन रिश्वत के पांच सौ रुपयों में से पांच रुपयों का दूसरा नोट सिपाही को देकर कहा—"इक़बाल करा लेना। लातों के भूत बातों से नहीं मानते।"

(५)

दूसरे दिन मुक़द्दमा शेख सलीमुद्दीन की कचहरी में पेश हुआ। रसीला ने आते ही अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उसने कोई ननुनच नहीं की। अपने बचाव के लिए कोई बहाना नहीं बनाया। कोई झूठ न बोला। अगर चाहता तो कह सकता था कि यह सब साज़िश है। मैं इनके यहां नौकरी नहीं करना चाहता था। इन्होंने मुझे फंसाने के लिए जाल बिछाया है। हलवाई का क्या है? उसकी मिठाई इनके यहां नित्य जाती रहती है। वह इनकी न कहेगा। तो क्या मेरी कहेगा! मगर उसने यह कुछ न कहा। एक अपराध कर चुका था, दूसरा करने का साहस न हुआ। अब उसकी आंखें खुल गई थीं। उसके अपराध का दौर कैसा अल्प था, कितना शिक्षाप्रद! उसने कचहरी में जाते ही

अपना अपराध स्वीकार कर लिया और हाथ बांधकर कहा—"हजूर ! यह मेरा पहला अपराध है। अब की माफी हो जाए, फिर कभी ऐसी ग़लती नहीं होगी।"

शेख़ साहब न्याय-प्रिय आदमी थे। वे दया करना न जानते थे। वे केवल न्याय करते थे। रसीला को माफ़ कर देते तो उनके नाम पर बट्टा लग जाता, शहर में मुँह न दिखा सकते। न्याय के सिंहासन पर बैठकर यह अन्याय कैसे करते ? इन्होंने रसीला को छः महीने की क़ैद की सज़ा दी, और अपने मुँह पर रूमाल फेरा। यह रूमाल वही था जिसमें एक दिन पहले किसी आसामी या आसामी के सम्बन्धी ने एक हज़ार रुपये के नोट बाँधकर उनको भेंट किये थे।

रसीला ने यह फ़ैसला सुना। उसका चेहरा ज़रा भी मलीन न हुआ, मगर रमज़ान की आँखों में ख़ून उतर आया। वह दिल में सोचता था, यह न्याय नहीं, न्याय की हत्या है। संसार में न्याय के नाटक होते हैं, न्याय के नाम पर तालियाँ बजती हैं। परन्तु वह न्याय, वह सर्वोपम-सुषमा, वह दुनिया की ज्योति कहाँ है ? उसे किसने देखा है ?

यह दुनिया न्यायपुरी नहीं, अन्धेर-नगरी है। यहाँ चोर मालिक गिरफ्तार कराता है, चोर सिपाही गिरफ्तार करता है, चोर हाकिम सज़ा देता है। चोर इसलिए कि उसका अपराध प्रकट हो गया। परन्तु उन सभ्य चोरों को, उन असली डाकुओं को, जो अपने-अपने घरों में बैठकर आराम से दूसरों का धन हथियाते हैं, कोई नहीं पूछता।

रमज़ान घर पहुँचा। इस समय उसका चेहरा निराशा की सजीव मूर्ति था। एक दासी ने पूछा—"क्यों रमज़ान ! रसीला को क्या हुआ ?"

"छः महीने की क़ैद का हुक्म हुआ है।"

दासी ने घृणा से कहा—"बहुत अच्छा हुआ। कम्बख़्त इसी लायक़ था। यह इन्साफ़ है।"

मगर रमज़ान ने इस तरह, जैसे कोई मिन्नत कर रहा हो, कहा—"नहीं, तुम ग़लती पर हो। यह इन्साफ़ नहीं, अन्धेर है।"

दासी ने समझने का यत्न किया, पर समझ न सकी कि रमज़ान का क्या मतलब है।

रात के समय, जब एक हज़ार, पाँच सौ और पाँच रुपये के चोर अपने मकान में गुदगुदे बिस्तरों पर शान्ति की नींद सो रहे थे, अठन्नी का चोर जेल की तंग और अन्धेरी कोठरी में बन्द था और अपने-आपको दूसरे दिन की यातनाओं के लिए तैयार कर रहा था।

हंस की चाल

कुछ समय गुज़रा, कानपुर में एक बड़े सुप्रसिद्ध कवि रहते थे, मुंशी ईश्वर सरण रसिक। आयु तो कुछ अधिक न थी, मगर जब लिखने बैठते तो सुन्दरता की नदियाँ बहा देते थे। उनकी उपमाएं, उनकी शब्द-रचना, उनके अलंकार सब अनूठे थे। लोग उनकी कविताएं पढ़कर तड़प उठते थे। असम्भव था कि कहीं कोई कवि-दरबार हो और उसमें रसिक जी को न बुलाया जाय। उनके एक-एक पद पर श्रोता वाह-वाह करते थे। वह सभा पर मोहिनी डाल देते थे। उनके बाद किसी दूसरे का रंग न जमता था, इसलिए उनकी बारी सब के बाद आती थी। वह किसी के कारख़ाने में नौकर थे। वेतन भी ज्यादा न था, केवल चालीस-पैंतालीस पाते थे और इसी पर सन्तुष्ट थे। प्रायः कहा करते, यह धन नहीं तो क्या हुआ, विधाता ने काव्य-धन देने में तो कंजूसी से काम नहीं लिया। अब दुनिया का प्रत्येक पदार्थ एक ही आदमी को कैसे मिल जाए। बाज़ार में निकलते और लोग उन्हें देखकर शहरों में कहते, यह रसिक जी जा रहे हैं, तो आप किसी दिव्य-लोक में पहुँच जाते। उस समय उन्हें ऐसा मालूम होता था, जैसे आकाश में उड़े जा रहे हैं। कीर्ति-मदिरा का नशा कितना तेज़, कितना बस में कर लेने वाला है।

परन्तु उनको एक बात का बड़ा दुःख था, उनकी जीवन-संगिनी इस साहित्य-कीर्ति की हिस्सेदार न थी। वैसे भागीरथी पर प्राण देते थे। उसे देखकर उनके हृदय-सागर में प्रेम और आनन्द की मौजें उठने

लगती थीं। उनकी मुस्कराहट उनके अँधेरे दिल का दीपक थी। उससे कहते—भागीरथी! कविता के माधुर्य और लालित्य का सोता तू है। मगर भागीरथी का यह प्रकाशमय सोता ईश्वर सरण लिए था, उसके अपने लिए नहीं, जैसे दीपक दूसरों को रोशनी देता है। ईश्वर सरण चाहते थे, भागीरथी भी काव्य-रचना करे, उसकी कविताएं भी हिन्दी की उच्चकोटि की पत्रिकाओं में प्रकाशित हों और वह देख-देखकर झूमे। उनके इष्टमित्र कहें, भाई! तुम्हारा प्रारब्ध अच्छा है, जो ऐसी विदुषी स्त्री मिली, वाह-वा क्या खूब लिखती है, पढ़कर दिल की आँखें खुल जाती हैं, इधर हमारी स्त्रियाँ हैं कि कभी भूल से एक दोहा भी मुँह से निकल जाए, तो मुँह तकने लगती हैं। यह ख्याल कैसे आनन्द-मय थे, कैसे सम्मान-सूचक? ईश्वर सरण उस दिन के लिए उत्सुक थे, वह उस के लिए अपना सर्वस्व लुटाने को भी तैयार थे।

मगर भागीरथी कविताएँ समझती थी, लिख न सकती थी। उसके पिता को लड़कियाँ पढ़ाने का चाव था। उन्होंने भागीरथी को हिन्दी की उच्च शिक्षा दी थी। इसके बाद उसे ईश्वर सरण जैसा साहित्य-सेवी पति मिला। सोने पर सुहागा हो गया, कुछ ही दिनों में अच्छे-अच्छे कवियों की रचना समझने लगी। उसकी तर्क-शक्ति देखकर रसिक जी भूमि से उछल पड़ते थे। परन्तु अब इसे क्या कहा जाए कि वह कविता समझती थी, कविता लिख न सकती थी। हम हर रोज़ कई चित्र देखते हैं। अच्छे चित्र की प्रशंसा करते हैं, बुरे चित्र पर नाक सिकोड़ लेते हैं। पर हम में चित्र बनाने वालों की संख्या कितनी है? ईश्वर सरण इस मोटी बात को भी न समझते थे।

(२)

एक दिन रसिक जी सन्ध्या-समय दफ्तर से लौटे तो उनके हाथ में एक मासिक-पत्रिका थी। आते ही स्त्री से बोले—"एक बहुत बढ़िया कविता है, देखोगी?" भागीरथी इस समय धुले हुए कपड़े सँवार-सँवारकर सन्दूक में रख रही थी। उसने मुँह फेरकर पति की तरफ़ देखा और

मुस्कराकर उत्तर दिया—"पहले यह कपड़ों की कविता समाप्त कर लूँ, फिर वह भी देख लूँगी। कौन-सी पत्रिका है यह ?"

"बीसवीं सदी।"

"आपकी कविता छपी या नहीं।"

"छप गई। मगर मैं तुम्हें एक दूसरी कविता दिखाना चाहता हूँ।"

"किसकी है ?"

"कोई स्त्री ब्रजकुमारी 'फूल' है, उसकी।"

भागीरथी ने सन्दूक के एक कोने में नये कपड़ों के लिये जगह बनाते हुए कहा—"नई लेखिका है। यह नाम पहले कभी नहीं सुना।"

"परन्तु कविता बहुत बढ़िया है। देखोगी तो खुश हो जाओगी।"

भागीरथी ने कपड़े वहीं छोड़ दिए और लपककर पत्रिका पति के हाथ से छीन ली। ऐसे चाव से कोई स्त्री आभूषणों के डिब्बे पर भी कम लपकी होगी। भागीरथी ज्यों-ज्यों कविता पढ़ती जाती थी, उसके चेहरे का रंग खिलता जाता था। ईश्वर सरण ने कोट उतारकर खूँटी से लटका दिया और पूछा—

"क्यों श्रीमती जी! कैसी कविता है ? बोलो।"

भागीरथी—"बहुत बढ़िया! पढ़कर आँखों के सामने चित्र आ जाता है।"

ईश्वर सरण—"बस-बस! मेरी भी यही सम्मति है। अच्छा अगर तुम इन्स्पैक्टर हो तो इसे कितने नम्बर दो।"

भागीरथी ने पत्रिका लपेटकर दोनों हाथ कमर के पीछे कर लिए और बड़ी गम्भीरता से सोचने लगी।

ईश्वर सरण—"मगर देखो! यह ब्रजकुमारी फूल ही की परीक्षा नहीं, तुम्हारा भी इम्तिहान है।"

भागीरथी ने अजीब-सा मुँह बनाकर कहा—"मेम साहब की राय में यह लड़की दस में से छः नम्बर पाने के योग्य है।"

ईश्वर सरण—"तो बाक़ी नम्बर क्यों काट लिए ?"

भागीरथी—"तुम्हारे लिए। और एक और बात भी है, इसे पूरे नम्बर दे देती तो आप फ़ेल हो जाती। तुम कहते, चार सुन्दर शब्द देखकर अवाक् रह गई। अच्छा, अब बैठ जाओ, खड़े कब तक रहोगे।"

यह कहकर भागीरथी ने बालपन की सादगी से पति के दोनों हाथ पकड़े और उन्हें कमरे में लेजाकर चारपाई पर बैठा दिया। इसके बाद आप भी उनके पास ही बैठ गई और उनके कन्धे पर सिर रखकर बोली—"कविराज जी का दिल इस समय कहाँ है?"

ईश्वर सरण—"बड़ी दूर!"

भागीरथी—(बनावटी क्रोध से सिर उठाकर) "बड़ी दूर नहीं! श्रीमती भागीरथी देवी पास है तो दिल दूर कहाँ जा सकता है?"

पवित्र प्रेम की इस सादगी पर रसिक जी लोट-पोट हो गये। उन्होंने भागीरथी के मुँह की तरफ़ देखा, फिर उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा—"अब बहुत निकट है।"

भागीरथी ने लजाकर सिर झुका लिया और बोली—"जाओ हटो! तुम बड़े शरारती हो। हम अपनी कविता पढ़ेंगी।"

यह कहकर भागीरथी ने पत्रिका के पन्ने उलटकर देखा, और पति की कविता पढ़ने लगी।

(३)

एकाएक मुंशी जी ने पत्रिका भागीरथी के हाथ से लेली और कहा—"तुमने देखा, सम्पादक महाशय ने इस स्त्री की कितनी प्रशंसा की है?"

भागीरथी—"नहीं, मैंने नहीं देखा, क्या लिखा है?"

ईश्वर सरण—सम्पादक महाशय लिखते हैं—

"हम देवी ब्रजकुमारी की यह पहली रचना हिन्दी-संसार के सम्मुख रखते हुए बड़े खुश हैं और हमें अभिमान है कि ऐसी उच्च-कोटि की लेखिका का हिन्दी-संसार से परिचय कराने का शुभ अवसर हमें प्राप्त हुआ है। अगर दिन चढ़ने पर सूरज की पहली किरण देखकर उसके बाद के प्रकाश के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है तो यह कहने में

हमें ज़रा भी संकोच नहीं कि यह देवी बहुत जल्द हिन्दी-साहित्य-संसार की रानी कहावेगी...।"

भागीरथी—"बस, पुरुषों में यही तो दोष है। प्रशंसा करते हैं तो आकाश-पाताल एक कर देते हैं। और इसका कारण केवल यह है कि वह स्त्री है, किसी पुरुष के लिए यह शब्द कभी न लिखे जाते।"

ईश्वर सरण—"तुम्हारा ख्याल वास्तव में ठीक है।"

भागीरथी—"कविता बुरी नहीं है। मैं पहले ही प्रशंसा कर चुकी हूँ। परन्तु ज़रा अपनी रचना देखो, 'गंगा के घाट पर'—उसके सामने यह क्या चीज़ है। (मुँह बनाकर) अगर दिन चढ़ने पर सूरज की पहली किरण देखकर उसके बाद के प्रकाश........। जी चाहता है, सम्पादक सामने आ जाए तो मुँह पर थप्पड़ दे मारूँ।"

ईश्वर सरण—(हँसकर) "तुम तो चंडिका बन गईं।"

भागीरथी—"तुम हँसते हो, मुझे ऐसी बात पर ज़हर चढ़ जाता है। पहले तगादे कर-कर के कविता मंगवा लेते हैं, फिर अपमान करते हैं। तुम ऐसी पत्रिकाओं में कविता न भेजा करो, कौन-सी थैलियाँ खोल देते हैं।"

ईश्वर सरण—"भागीरथी! तुम क्यों नहीं लिखतीं। लिखो तो तुम्हारी भी इसी तरह प्रशंसा हो।"

भागीरथी—"न महाराज! मुझे ऐसी प्रशंसा की ज़रूरत नहीं।"

ईश्वर सरण—"भागीरथी! अब तुम्हें ना नहीं करने दूँगा। तुम्हें लिखना होगा।"

भागीरथी—परन्तु लिखना आता भ त हो।"

ईश्वर सरण—आता क्यों नहीं। जब मुझे पत्र लिखती हो तो उसमें कैसी सुन्दरता, कैसी मोहनी होती है। और भावों का माधुर्य! वाह-वा, क्या कहना! बस, यही बात कविता में कह दो।"

भागीरथी—"यह काम पुरुषों का है, स्त्रियों का नहीं।"

ईश्वर सरण—"वाह! स्त्रियों का कैसे नहीं। यह ब्रजकुमारी स्त्री

है या नहीं ? कैसा अच्छा लिखती है ?"

भागीरथी—"मैं तो जानूँ, उसके पति ने लिखकर उसके नाम से भेज दी होगी, तुम चाहो, तुम भी लिख दो। मना कर जाऊँ तो जो काले चोर की सज़ा, वह मेरी।"

ईश्वर सरण—"हँसी छोड़ो। बोलो, लिखोगी या नहीं ?"

भागीरथी—"तुम लिख दो, मैं नक़ल करके भेज दूँगी।"

ईश्वर सरण—"यह शिक्षा मुझे गुरु ने नहीं दी।"

भागीरथी—"लोग कहेंगे, भागीरथी ब्रजकुमारी से भी बढ़ गई।"

ईश्वर सरण—"ख्याल में प्रसन्न हो लो।"

भागीरथी—"सम्पादकीय टिप्पणियाँ पढ़कर आनन्द आ जाए।"

ईश्वर सरण—"पहले लिख तो लो, फिर यह भी सोच लेना।"

भागीरथी—"अरे! अपने लिये इतना कुछ लिखते हो, क्या थोड़ा-सा मेरे लिये न लिख दोगे ? सोचते होगे, यह मशहूर हो गई तो मुझे कौन पूछेगा ? पर अब मैं तुम्हारा पीछा न छोड़ूंगी।"

ईश्वर सर . . स्त्री की तरफ सरोष आँखों से देखा और सिर झुका लिया।

(४)

अब भागीरथी के सिर पर एक ही धुन सवार थी। हर समय ईश्वर सरण से लड़ा करती, तुम कैसे संकुचित हृदय हो, एक कविता भी नहीं तैयार कर देते। बड़ा प्यार जताया करते हैं, मानो मुझ से बढ़कर इन्हें किसी का ख्याल ही नहीं। मगर ज़रा-सी बात कही है, वह भी नहीं मानते। मैं लिखना जानती तो गिन-गिनकर आधी कविताएं तुम्हारे नाम से लिख देती। मगर तुम मेरा ज़रा ख्याल नहीं करते। मर्द कैसे स्वार्थी होते हैं ? स्त्रियाँ उनके लिये अपना तन-मन सब कुछ निछावर कर देती हैं, उन्हें परवाह ही नहीं। ईश्वर सरण कहते—भागीरथी, तुम पागल हो गई हो क्या ? मुझसे यह काम न होगा। कीर्ति की इच्छा है तो परिश्रम करो, यह क्या कि दुःख सहे बी फ़ाख़ता और कौआ अंडे

खाय। परिश्रम मैं करूँ, शोहरत तुम कमा लो। भागीरथी यह सुनती और रोने लगती। हम स्त्री की लाल आँखें देख सकते हैं, पर उसकी सजल आँखें नहीं देख सकते। उस समय हमारा दिल दया का सागर बन जाता है। ईश्वर सरण भी नरम पड़ जाते। सोचते, कैसी मूर्खता की, इसे ख्याल न देते तो आज यह कलह न देखनी पड़ती। उन्होंने जिसे कम्बल समझा था, वह रीछ निकला। अब वह कम्बल को छोड़ते थे, कम्बल उन्हें न छोड़ता था। एक तरफ कवि-हठ था, दूसरी तरफ त्रिया-हठ। कई दिन के संग्राम के बाद वही हुआ जो इस नीले आकाश तले होता आया है। पुरुष का निश्चय स्त्री की इच्छा के सामने पानी-पानी हो गया। बर्फ का टुकड़ा कितना ही कठोर क्यों न हो, सूरज की नर्म और गर्म किरणों के सामने कब तक ठहर सकता है?

एक वर्ष के बाद भागीरथी का नाम हिन्दी-जगत् में बच्चे-बच्चे की ज़बान पर था। उसी की कमनीय कृतियां देखकर कवि एक-दूसरे से पूछते—"यह कौन है? कुछ ही महीनों में कहीं से कहीं जा पहुँची। एक वर्ष पहले इसका नाम भी कोई न जानता था, आज चारों ओर इसकी चर्चा है। ब्रजकुमारी का नाम उसके सामने फीका पड़ गया, जैसे सूरज निकलने पर चांद फीका पड़ जाता है।" लोग उसकी कविताओं की प्रतीक्षा करते रहते थे। स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती कहते—"देखा! एक स्त्री ने सारे मर्दों के दांत खट्टे कर दिये। क्या अब भी वहीं पुरानी रट लगाए जाओगे कि स्त्री-जाति को विधाता ने केवल घर के आंगन में काम करने के लिए उत्पन्न किया है।" विरोधी उत्तर देते—"सच पूछो तो इन कविताओं में धरा ही क्या है? इसी की एक कविता लेकर उसके नीचे किसी पुरुष का नाम लिख दो, फिर देखो, क्या होता है। कोई बात भी न पूछे। जैसे और साधारण लेख छप जाते हैं, वैसे ही वह भी छप जाए। स्त्री का नाम ही इन सबसे बड़ा गुण है। और जनाब, हमारा तो यहां तक ख्याल है कि यह किसी मनचले मर्द की करतूत है।"

उधर भागीरथी के पांव भूमि पर न पड़ते थे। जिस पत्र को उठाती,

उसी में अपनी प्रशंसा पाती। उस समय उसे ऐसा मालूम होता था, मानो किसी ने राज-सिंहासन पर बिठा दिया है। ईश्वर सरण की दिन-रात खुशामदें करती रहती थी। वह ज़रा से रूठ जाते तो सौ-सौ तरह से मनाया करती। दूध देने वाली गाय की लातें भी खानी पड़ती हैं। मगर ईश्वर सरण उससे नाराज़ न होते थे; स्त्री की प्रशंसा पढ़ते तो फूले न समाते। हम अपनी प्रशंसा सुनकर उतने खुश नहीं होते, जितने अपनी स्त्री की प्रशंसा सुनकर खुश होते हैं। पराए के मुँह से उसकी योग्यता का बखान सुनकर हम ब्रह्मानन्द में लीन हो जाते हैं, हम किसी दूसरे प्रकाश-पूर्ण लोक में पहुँच जाते हैं। परन्तु कभी-कभी भागीरथी किसी अज्ञात भय से कांप उठती थी। उसे ऐसा मालूम होता था कि मैं आकाश से गिरने वाली हूँ। मेरा काव्य-रहस्य प्रकट हो जाने वाला है। एकान्त में बैठती तो सोचती, कौए ने हंस के पर लगा रखे हैं। इस समय नाचता है, गाता है, प्रसन्न होता है और जंगल के दूसरे पंछी उसे ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं! मगर इस झूठे सौंदर्य की आयु कितने दिन है? यह मकर कब तक चलेगा? लेकिन फिर भी वह रसिक जी से तगादे करती थी और अपने लिए लिखा लेती थी, जैसे शराबी शराब को बुरा समझ कर भी उसका परित्याग नहीं कर सकता। कीर्ति का नशा शराब के नशे से भी तेज़ है। शराब छोड़ना आसान है कीर्ति छोड़ना आसान नहीं।

परन्तु भागीरथी कौन है? अभी तक यह रसिक जी को छोड़कर किसी को भी पता न था। उसकी कविता पढ़ने वालों की संख्या हज़ारों तक पहुँच गई थी, पर उसे जानने वाला कोई भी न था। रसिक जी ने इस बात का पूरा-पूरा ख्याल रखा था कि भागीरथी का पता किसी को भी मालूम न हो। यहां तक कि सम्पादकों को भी कुछ पता न था। उन्हें कवितायें मिल जाती थीं और वह प्रकाशित कर देते थे। मगर शोहरत देर तक परदे में नहीं ठहरती, जिस तरह पंछी का बच्चा पर निकलने पर घोंसले में नहीं रहता। शोहरत के भी पर होते हैं। कुछ देर बाद यह रहस्य प्रकट हो गया कि भागीरथी रसिक जी की स्त्री है।

समाचार पत्रों को नई बात मिल गई। मुंशीजी को इस सौभाग्य पर बधाइयां मिलने लगीं, परन्तु वह दिल ही दिल में कांप रहे थे, एक बात खुल गई, क्या दूसरी भी खुल जाएगी ?

(५)

उन्हीं दिनों में रसिक जी को दफ्तर के काम पर पंजाब की तरफ़ जाना पड़ा, भागीरथी उदास हो गई। उसकी आंखों में पानी आ गया। प्रेम वियोग से बहुत घबराता है। वियोग को सामने देखकर उसका लहू सूख जाता है। भागीरथी सोचने लगी, अकेली कैसी रहूँगी ? यह वियोग के दिन किस तरह बीतेंगे ? मुँशी जी का दफ्तर से आने का समय होता तो द्वार पर जा खड़ी होती थी, अब क्या करूँगी ?

मगर नौकरी का मामला था, क्या हो सकता था ? मुँशी जी ने कहा—"थोड़े दिनों की बात है मैं, जल्द लौट आऊँगा।"

भागीरथी—"एक प्रण करो, जब जाने दूँगी।"

ईश्वर सरण—"क्या ?"

भागीरथी—"यह कि हर शहर से पत्र लिखूँगा और हर रोज़ लिखूँगा। उदास दिल प्रतीक्षा में लगा रहेगा।"

ईश्वर सरण—"बड़ी बेढब शर्त है, पर ख़ैर, मंजूर। कुछ और ?"

भागीरथी—"कायस्थ-कन्या-पाठशाला का वार्षिकोत्सव होने वाला है। उस दिन मिसेज़ लालबिहारी लाल आई थीं। कहत थीं, उस दिन इनाम तुम बाँटोगी। मैंने बहुत कहा कि मैं इस पदवी के योग्य नहीं, मगर वह नहीं मानीं। अब वहाँ कोई कविता पढ़नी पड़ेगी।"

ईश्वर सरण के मुँह पर प्रसन्नता की आभा आ गई, मुस्कराकर बोले—"तो अब प्रधान बनोगी ? तुमने पहले क्यों न बताया ?"

भागीरथी—"क्या करूँ, जी घबरा रहा है। मिसेज़ लालबिहारी लाल एक नहीं सुनतीं।"

ईश्वर सरण—"पर दिल में खुश हो रही होगी।"

भागीरथी—"मैं झूठ नहीं बोलती। गंगा जी की सौगन्ध, मेरा दिल

काँप रहा है। वहाँ मर्द भी होंगे, कैसे बोलूँगी। परमेश्वर लाज रख ले, यही बड़ी बात है।"

ईश्वर सरण—"खूब रखेगा। अब तो स्त्रियाँ व्याख्यान भी देने लगीं, तुम कविता भी न पढ़ सकोगी क्या? भागीरथी ज़रा सोचो! स्त्री और पुरुष में कितना भेद है? हम कई सालों से तपस्या कर रहे हैं, किसी ने तमग़ा भी न दिया, तुम्हारी चार कविताएँ प्रकाशित हुईं, तुम प्रधान बनने लगीं!"

भागीरथी ने प्रेम-पूर्ण आँखों से पति की ओर देखा और कहा—"सच कहते हो, यह सम्मान मेरा है या तुम्हारा?"

ईश्वर सरण—"तुम्हारा है मेरा नहीं, मैं तो भगवान् से यह प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अगले जन्म में स्त्री का जन्म दे और पति कवि हो।"

भागीरथी—"फिर क्या होगा?"

ईश्वर सरण—"प्रधान तो बनेंगे! अच्छा अब मुझे क्या आज्ञा है?"

भागीरथी—"कोई अच्छी-सी कविता भेज देना, ज़रा जल्दी। कहीं ऐसा न हो, तुम भूल जाओ और यहाँ सारा गुड़ गोबर हो जाए। रूमाल में गाँठ बाँध लो; फिर न भूलोगे?"

ईश्वर सरण—"रूमाल में गाँठ बाँधने की क्या ज़रूरत है। यहाँ हृदय-पट पर नोट हो गया?"

इसके बाद ईश्वर सरण ने भागीरथी को गले लगाया और बाहर निकल आए। भागीरथी दरवाजा पकड़कर खड़ी हो गई, और सजल आँखों से पति की ओर देखती रही।

कुछ दिनों के बाद कविता आ गई—"भविष्य का प्रकाश।" उसे पढ़कर भागीरथी भूमि से उछल पड़ी। यह कविता साधारण कविता न थी! इसमें सुन्दरता थी, इसमें माधुरी थी, इसमें नवीनता थी, इसमें कल्पना थी। इसमें भाव था, इसमें रस था, और सबसे बढ़कर यह कि

इसमें हृदय था। भागीरथी को विश्वास हो गया कि वार्षिकोत्सव के दिन लोग खुश हो जाएँगे और जब यह कविता प्रेस में गई तो साहित्य-संसार चकित रह जाएगा। मेरे नाम से कविताएँ बहुत छपी हैं, पर ऐसी अद्भुत और अपूर्व कविता आज तक नहीं छपी। यह कविता नहीं, काव्य-जगत् की शोभा है। इस समय उसे पति के महत्त्व का पूरा-पूरा अनुभव हुआ। पता नहीं किन यत्नों से लिखी होगी, इसके लिए कितनी रातें जागे होंगे। ऐसी चीज़ें कौन किसी को देता है। परन्तु मुहब्बत त्याग की माँ है, जहाँ जाती है, बेटी को साथ ले जाती है। भागीरथी ने मन-ही-मन में अपने त्याग-वीर और उदार-हृदय पति को नमस्कार किया और कविता गले से लगा ली।

उत्सव के दिन हाल में तिल धरने को जगह न थी। फ़र्श, गैलरी, प्लेटफार्म सब भरे हुए थे। इससे पहले पुरुष थोड़ी संख्या में सम्मिलित होते थे, परन्तु इस वर्ष पुरुष स्त्रियों से भी अधिक थे। और यदि स्त्रियों को उठाना सम्भव होता तो जो स्त्रियाँ आई थीं, पुरुष उनको भी उठा देते। यह सब लोग कविता सुनने नहीं आए थे, लगभग आधे से ज्यादा संख्या उन महानुभावों की थी, जो केवल इस उद्देश्य से आए थे कि चलो, भागीरथी देवी को देखने ही चलें। नाम सुना है, शक्ल-सूरत नहीं देखी। देखें कैसी स्त्री है, जिसकी इतनी प्रशंसा हो रही है।

सहसा एक तरफ़ से शोर उठा, लोग इधर-उधर देखने लगे। जो पीछे बैठे थे, वे खड़े हो गए। जो खड़े थे वे आगे खिसकने लगे। प्रबंध-कर्ताओं ने चिल्ला-चिल्लाकर कहा, सज्जनो ! शांति से बैठे रहो। मगर कौन सुनता था, खलबली मच गई। कोई कहता था, भागीरथी देवी आ गईं। कोई कहता था, रेला है, बाहर आदमी ही-आदमी खड़े हैं, इनको खुली जगह का प्रबन्ध करना चाहिए था। एक बेंच पर बहुत से आदमी खड़े थे, वह टूट गई। स्त्रियों की तरफ़ से बच्चे रोने लगे।

यकायक हाल में सन्नाटा छा गया। लोगों ने देखा कि मिसेज़ लाल-बिहारीलाल के साथ एक युवा स्त्री कश्मीरी साड़ी पहने आ रही है।

उसका सिर झुका हुआ था और वह बड़ी सावधानी से बचा-बचाकर पाँव उठाती थी। उसके चेहरे पर विनय थी। परन्तु यह विनय अहंकार से भी अभिमान-पूर्ण थी। लोगों ने तालियाँ पीटकर हर्ष प्रकट किया—यही भागीरथी देवी थी।

पहले प्रस्ताव और इसके बाद अनुमोदन हुआ। भागीरथी ने उठकर प्रधान-पद स्वीकार किया और लड़कियों को इनाम बाँटने लगी। इस समय उसके हृदय की जो दशा थी, उसे वही अनुभव कर सकता है, जिसे स्वयं कभी यह सम्मान प्राप्त हो चुका हो, दूसरे लोग उसके मनोभाव को नहीं समझ सकते। आखिर यह कार्यवाही, जो इनाम लेने वाली बालिकाओं और उनके माता-पिता के सिवाय और किसी को भी रुचिकर न थी, समाप्त हुई और भागीरथी देवी सम्भाषण के लिए खड़ी हुई। अब उसके चेहरे पर गम्भीरता थी, संकोच न था। उसने चारों तरफ़ देखा और वही कहना आरम्भ किया, जो ऐसे अवसरों पर हर-एक आदमी कहता है—आपने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है, मैं वस्तुतः उसके योग्य नहीं। मुझसे योग्य देवियाँ इसी कानपुर में मौजूद हैं, जिनके सिर के बाल महिला-समाज की सेवा करते-करते सफ़ेद गए। मैं आपको किस मुँह से धन्यवाद दूँ, जो आपने मिट्टी की चुटकी को मस्तक पर चढ़ा दिया है······।

लोगों ने चिल्लाकर कहा—"कविता!"

भागीरथी—"मेरे खयाल में इस समय कविता की कोई आवश्यकता नहीं। बड़ी देर हो गई है।"

जन-समूह से आवाज़ें आईं—"बिल्कुल नहीं। हम देवीजी की कविता सुनकर जाएँगे।"

अब भागीरथी ने कविता निकाली और उसे पढ़ने लगी। लोग मुग्ध हो गए। यह कविता न थी, मोहनी माया थी, और इस पर भागीरथी के पढ़ने का ढंग, सोने पर सुहागा था। एक-एक पद पर वाह-वाह का ज़ोर होने लगा। जो न समझते थे, वह भी झूमते थे,

कहीं ऐसा न हो दूसरे लोग उन्हें मूर्ख समझ लें। भागीरथी के दिल में जो-जो भ्रम, जो-जो वहम थे, सब निर्मूल सिद्ध हुए, ऐसी अकथनीय सफलता उसके ख्याल में भी न थी। सब आँखें उसकी तरफ देख रही थीं, सब कान उसकी आवाज़ सुन रहे थे। भागीरथी अपनी कविता को और भी जोश से, और भी लगन से पढ़ने लगी। हम ज्यों-ज्यों सफल-काम होते जाते हैं, हमारा पुरुषार्थ बढ़ता जाता है।

इतने में उसकी दृष्टि श्रीमती लालबिहारीलाल की तरफ़ गई। वह कागज़ के एक टुकड़े को बड़े ध्यान से देख रही थीं। भागीरथी का लहू सूख गया, जैसे फूलों के ढेर में नाग नज़र आ जाए। यह उसके पति का पत्र था, जो उन्होंने पटियाले से कविता के साथ भेजा था, जिसमें उन्होंने अपनी कृति की भूरि भूरि प्रशंसा की थी और जिसे भागीरथी की भेंट किया था। भागीरथी को यह काग़ज़ जुदा करना याद न रहा था। कविता पढ़ने के आवेश में पिन उतर गया और वह पत्र नीचे गिर पड़ा। और अब रहस्य—

भागीरथी का सिर घूमने लगा। उसने जल्दी से कविता समाप्त की और नीचे उतर आई। पुरुष श्रद्धा-भाव से तालियाँ बजा रहे थे, स्त्रियाँ आश्चर्य से, "अपने ही जैसी" मगर "दूसरी तरह" की एक महिला के चेहरे की तरफ देख रही थीं और भागीरथी का दिल भय, सन्ताप और घृणा से धड़क रहा था। जब लोग चले गए तो वह मिसेज़ लाल-बिहारीलाल को खींचकर साथ के कमरे में ले गई और आँखों में आँसू भरकर बोली,—"मेरी लाज अब तुम्हारे हाथ है। चाहे रखो, चाहे मिट्टी में मिला दो।"

मिसेज़ लालबिहारीलाल ने वह पत्र भागीरथी को लौटा दिया और कहा—"मेरे मुँह से इस मामले में एक भी शब्द न निकलेगा।"

और उसने अपना वचन पूरा किया। भागीरथी ने लिखना बन्द कर दिया।

(६)

परन्तु ब्रजकुमारी की कविताएँ पूर्ववत् प्रकाशित होती रहीं ! भागीरथी उन्हें देखती थी और ठण्डी आह भर कर रह जाती थी। अब उसके दिल में जलन न थी, जो किसी कच्चे कवि के हृदय में दूसरे कवि को देखकर होती है। उसका स्थान सन्तोष ने ले लिया था, जो हारे हुए जुआरियों का अन्तिम धन है। यह सन्तोष पर-कटे पक्षियों के समान न उड़ता, उड़ सकता है। वह नीले आकाश में उड़ते हुए दूसरे पक्षियों की ओर देखता है और चुप-चाप गर्दन झुका लेता है। धीरे-धीरे भागीरथी को सौंदर्य और संगीत के इस संसार की याद भी भूल गई। अब वह फिर वही घर के आँगन में घर का काम करने वाली भागीरथी थी।

एक दिन उससे मिलने को एक लड़की आई। अठारह-उन्नीस साल की आयु होगी। आँखों में मुस्कराहट थी, चेहरे पर तेज। भागीरथी ने सोचा किसी स्कूल में पढ़ती होगी। बड़े आदर से बोली—"आओ बहन !"

लड़की ज़ीने में ठिठक कर खड़ी थी। भागीरथी के वचन सुनकर उसे भी बोलने का साहस हुआ।

उसने धीरे से कहा—"मुझे भागीरथी देवी से मिलना है, लखनऊ से आई हूँ।"

भागीरथी—"तो ऊपर आ जाइए, मैं ही भागीरथी हूँ।"

लड़की एक पाँव उठाकर फ़िर रुक गई। किसी के घर पहली बार जाकर हमारे पैर नहीं उठते, न मुँह से बात निकलती है। लड़की ने संकोच-भाव से कहा,—"मैं ब्रजकुमारी हूँ। आपके दर्शन को आई हूँ।"

और दूसरे क्षण में भागीरथी ने ब्रजकुमारी को गले से लगा लिया, जैसे दो बिछुड़ी हुई सखियाँ मिली हों। इसके बाद भागीरथी उसे बड़े आदर से अन्दर ले गई और चारपाई पर बिठाकर इधर-उधर की

बातें करने लगी। घर-बार का परिचय हो चुका तो भागीरथी ने कहा—"बहन ! तुम शायद विश्वास न करो, मगर मुझे तुम्हारी कविताएँ बहुत ही पसन्द हैं। इन्हें पढ़कर मैं किसी दिव्य-लोक में पहुँच जाती हूँ। पुरुष-समाज समझता था, यह साहित्य-क्षेत्र केवल हमारे लिए है, तुमने उनका ख्याल बदल दिया। तुम धन्य हो, तुमने स्त्री-जाति की लाज रख ली।"

ब्रजकुमारी—"यह आपकी सज्जनता है, वर्ना आपके सम्मुख मैं कुछ भी नहीं। आपकी कवितायें आज भी याद आती हैं तो तबीयत हरी हो जाती है। ज़रा हाथ लाना, चूम लूँ।"

भागीरथी—(लजाकर) "मगर मैंने तो अब लिखना ही छोड़ दिया है।"

ब्रजकुमारी—"पर क्यों, यही पूछने के लिये तो मैं आई हूँ।"

भागीरथी—"अब क्या बताऊँ ?"

ब्रजकुमारी—"कहीं रसिक जी ने रोक तो नहीं दिया ? शायद सोचते हों, पार्वती के सामने महादेव को कौन पूछेगा ?"

भागीरथी—"वे ऐसे स्वामी नहीं। उन्हें जितना आनन्द मेरी कवितायें पढ़कर आता है, उतना आनन्द अपनी कविताओं में भी नहीं आता।"

ब्रजकुमारी—"तो क्या माता-पिता बुरा मानते हैं ?"

भागीरथी—"बिलकुल नहीं। तुम्हारे लखनऊ ही में तो रहते हैं। कभी जाकर मिलो तो तुम्हें सिर आँखों पर बिठा लें। वे तो स्वयं कहते हैं कि स्त्रियों को साहित्य-संसार से परे रखना देश के साथ सबसे बड़ा अन्याय करना है।"

ब्रजकुमारी—"तो फिर इस मौन-धारण का कारण क्या ?"

भागीरथी चुप हो गई। सोचती थी क्या कहूँ, क्या न कहूँ ? पहले सोचा साफ़-साफ़ कह दूँ, यहाँ लिखना जानता ही कौन है ? वह सब झूठ के महल थे। वे लिखते थे, मैं अपने नाम से भेज देती थी। चार

दिन चमड़े के सिक्के चल गए। अब सदा को वही मकर कैसे चलता रहे। मगर फिर ख्याल आया, इसके दिल में मेरी कितनी श्रद्धा है ! यह सुनकर मेरी इज़्ज़त दो कौड़ी की भी न रहेगी। इसे अचरज होगा। यह चौंक उठेगी। यह सोचेगी कैसी नीच स्त्री है, जग को धोखा देती रही। इस समय कैसे गर्व से बैठी हूँ। यह कहकर सिर झुक जायगा। सत्य-भाषण कितना कठिन है ? भागीरथी ने ब्रजकुमारी की ओर देखा और उत्तर दिया—"बहन ! दुनिया के धन्धे ही कुछ करने नहीं देते।"

ब्रजकुमारी—"तुम्हारा यह उत्तर संतोष-जनक नहीं। मर्द समय निकाल लेते हैं।"

भागीरथी—"और यदि मैं कहूँ कि काव्य-जगत् से जी ऊब गया, तो फिर ?"

ब्रजकुमारी—"जी कैसे ऊब गया ? कविता वह वस्तु नहीं, जिस से कवि का जी ऊब जाए ; हरे-भरे जंगल, रमणीक घाटियाँ, चन्द्रमा की सुशीतल चाँदनी, झरनों का मनोहर दृश्य, बाल्यावस्था के सुनहरे दिन, पंछियों का कलरव, इनमें से क्या कोई भी वस्तु ऐसी है जिससे किसी प्रकृति-उपासक का जी ऊब जाए ? फिर कैसे सम्भव है कि किसी का दिल काव्य-जगत् से, जहाँ मन को मोह लेने वाले यह तमाम मंजुल पदार्थ चप्पे-चप्पे पर उपस्थित हैं, ऊब जाए ? नहीं बहन ! यह असंभव है। यह कभी नहीं हो सकता। यह कभी नहीं होता। मुझ से प्रतिज्ञा करें कि अब आप लिखेंगी। आपका न लिखना स्त्री-जाति की अकथनीय हानि है।" ब्रजकुमारी बोलती जाती थी, और भागीरथी उसके मुँह की तरफ़ टकटकी बाँधकर देख रही थी। भागीरथी को अब तक यही सन्देह था कि यह भ किसी से लिखाती होगी। परन्तु सुधा और संगीत के चार शब्द सुनकर उसकी सम्मति बदल गई। यह बनावट न थी, उसके सुन्दर हृदय का उद्गार था। भागीरथी को विश्वास हो गया कि यह वास्तव में कवि है। उसने सिर झुकाकर कहा—"तुम तो बात-चीत में

भी कविता करती हो। तुम ने दो शब्द बोले, मुझे कविता का स्वाद आ गया।"

ब्रजकुमारी—"जब लिखना आरम्भ किया तो एक-एक शब्द के लिए घण्टों परेशान रहना पड़ता था, उस समय मालूम होता था, मानो यह बेल मंडे न चढ़ेगी। परन्तु अब तो पद-के-पद सामने आ जाते हैं।"

थोड़ी देर बाद ब्रजकुमारी फिर आने की प्रतिज्ञा करके चली गई, मगर इसके अन्तिम शब्द भागीरथी के कानों में गूँज रहे थे। सोचती थी, अगर यह लड़की लगातार परिश्रम से इस पदवी को पहुँच सकती है तो क्या मैं ही गई-गुजरी हूँ। वह तो कई-बार कह चुके कि तुम में वह वस्तु है जो कविता का प्रधान अंग है, यत्न करो तो सफल होना आवश्यक है। मगर मैंने उलटा मार्ग पकड़ा और आज.........

भागीरथी को अपनी आयु का भूला और भुलाया हुआ युग याद आ गया। वही संगीत, वही सुधा, वही माधुरी, वही अनन्त यौवन, वही न मरने वाला सौंदर्य, न समाप्त होने वाला वसन्त, न मुरझाने वाले फूल। वह उस दुनिया में जाने को छटपटाने लगी, जैसे बालक को मेले का दृश्य याद आ जाए। भागीरथी बहुत देर तक चुपचाप बैठी सोचती रही। इसके बाद उसने सुदृढ़ संकल्प से हाथों की मुट्ठियाँ कस लीं और ऊँची आवाज़ से कहा—आज तक मैं कविताएँ लिखवाती थी, अब स्वयं लिखूँगी।"

रसिक जी साथ की कोठरी में थे! यह शिव-संकल्प सुना तो बाहर निकल आए और हँसकर बोले—"तथास्तु!"

भागीरथी ने लजाकर सिर झुका लिया।

काया-पलट

गाड़ी ने सीटी दी और धीरे-धीरे चलने लगी।

ड्योढ़े दर्जे के एक ज़नाना डिब्बे में बैठी हुई रत्ना ने घूँघट की आड़ से बाहर की तरफ़ देखा और दीर्घ निश्वास लिया। प्रातःकाल गाँव छूटा था, अब ज़िला भी छूट गया। रत्ना ने नीचे का होंठ दांतों तले दबाकर सिर झुका लिया और सोचने लगी, देखें अब फिर कब आना हो। इस समय बाप आंगन में बैठा होगा। माँ रसोईघर में होगी भाई खेल रहे होंगे। एक तरफ़ गऊ बंधी होगी। उसको ऐसा मालूम हुआ जैसे बाप ने घड़ी निकालकर समय देखा है और कहा है, अब रत्ना गाड़ी में होगी। फिर उसको ऐसा मालूम हुआ कि माँ की आंखें सजल हो गई हैं और वह दुपट्टे के आंचल से आँसू पोंछ रही है। रत्ना को घर की एक-एक बात याद आकर व्याकुल करने लगी। चलते समय माँ ने किस तरह उसे गले लगा कर प्यार किया था? किस तरह फूट-फूटकर रोई थी? जिस समय उसने रत्ना के पति से कहा, बेटा! अब यह तुम्हारे सुपुर्द है, हमारा अधिकार आज से समाप्त हुआ, उस समय उसकी आवाज़ किस तरह काँप रही थी? उसने कैसे हृदयग्राही शब्दों में कहा था, हमने इसे बेटों के समान पाला है, इसका दिल न दुखाना। यह बातें याद कर-कर के रत्ना का दिल भर आया। उसने अपना सिर गाड़ी के साथ लगा लिया और रोने लगी।

गाड़ी तेज़ हो गई थी। वृक्ष, खेत, तार के खम्बे इस तरह उड़े जाते थे, जैसे कोई अपने प्यारे से मिलने जा रहा हो। रक्षा ने अपने दिल को संभाला और घूँघट का एक कोना थोड़ा-सा उठाकर इधर-उधर देखा। डिब्बे में केवल एक ही स्त्री और थी। बीस-बाईस वर्ष की आयु होगी, गोरा रंग, गोल चेहरा, लम्बी गर्दन। शक्ल-सूरत से रोआब टपकता था। इतने में उसकी आंखें भी इधर-उधर उठ गईं। रक्षा चौंक पड़ी—यह सावित्री थी, उसके गाँव की रहने वाली। उसका विवाह हुए भी चार ही वर्ष हुए थे, मगर इतने ही थोड़े समय में वह कितनी बदल गई थी। उसे देखकर किसी को ख्याल भी न हो सकता था कि वह गाँव की रहने वाली होगी। चेहरे पर कैसी गम्भीरता थी, आँखों में कैसी ज्योति, जैसे कोई रानी हो। रक्षा उसे थोड़ी देर चुप-चाप देखती रही, इसके बाद उठ कर उसके पास चली गई और बोली—"वाह बहन! इतनी जल्दी भूल गई! पहचानती भी नहीं।"

सावित्री ने उसकी तरफ़ देखा और उसे गले लगाकर बोला—"अरी मेरी रक्षा! तू कहाँ से आ गई? उस कोने में जो पार्सल-सा पड़ा था, क्या तू उसी में से निकली है। आ, एक बार फिर गले मिल लें। (गले मिलने के बाद) वाह रे मेरे पार्सल! तू किधर जा रहा है?"

रक्षा—"तुम्हारे पार्सल का ब्याह हो गया।"

सावित्री—"यह तो साफ़ दिखाई दे रहा है, वर्ना जंगल की यह बन्दरिया तो मुँह छिपाकर इस तरह बैठने वाली न थी। मालूम होता है, पहली बार जा रही हो।"

रक्षा—"हाँ बहन, पहली बार। ब्याह तो दो साल हुए, हो गया था, गौना अब हुआ है।"

सावित्री—(मुस्कराकर "कहाँ ब्याह हुआ है?"

रक्षा—(सिर झुका कर धीरे से) "स्यालकोट।"

सावित्री—"बहनोई जी क्या करते हैं?"

रक्षा—"लाहौर में नौकर हैं।"

सावित्री—"लाहौर में ! (मुस्कराकर) तब तो प्रायः मुलाक़ात होती र हेगी। हम भी वहीं रहते हैं। बहनोई जी कैसे हैं, बदसूरत तो नहीं ?"

रत्ना—(सिर झुकाकर) "मुझे क्या मालूम ? मैंने उन्हें देखा थोड़ा है।"

सावित्री—"और जो वह कहीं खोजाएँ तो क्या करो ? कैसे ढूँढो ?"

रत्ना—"तुम्हें बुलवा भेजूँ और क्या करूँ ? आओगी न !"

सावित्री—"श्रद्धा से बुलाओगी, तो दौड़ती हुई आऊँगी।"

रत्ना—"ख़ैर, तुम अपनी सुनाओ। क्या हाल है ?"

सावित्री—"बहन ! परमात्मा की कृपा से कोई तक़लीफ़ नहीं। वकालत करते हैं, तीन-चार सौ रुपया आ जाता है। स्वभाव इतना मीठा है कि तुमसे क्या कहूँ। जब देखो मुँह गुलाब के समान खिला हुआ है। ख़फ़ा होना तो जानते ही नहीं। मुझे पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है। कहीं जाऊँ-आऊँ, ज़रा ऐतराज़ नहीं करते।"

रत्ना—"तो क्या तुम बाज़ारों में घूमती फिरती हो मेम साहब बनकर।"

सावित्री—(मुस्कराकर) "तुम्हें शायद मालूम नहीं, वह परदा-प्रथा के घोर विरोधी हैं। (बक्स से एक पुस्तक निकालकर) यह देखो, उन्होंने यह पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि परदा मूर्खता के समय की प्रथा है और स्त्रियों पर सब से बड़ा ज़ुल्म है।"

रत्ना—"तो यह कहो, तुम को भी अंग्रेज़ों की हवा लग गई।"

सावित्री—"मैं तो पहले ही इसके विरुद्ध थी।"

रत्ना—(पुस्तक का एक पन्ना उलटकर) "तो नंगे मुँह बाज़ारों में निकलते हुए तुम्हें लाज नहीं आती ? कोई अपना आदमी देख ले तो क्या कहे। मैं तो मर जाऊँ, जब भी यह निर्लज्जता स्वीकार न

करूँ। तुम दोनों हाथ में हाथ डालकर जाते होगे तो लोग हँसते होंगे।"

सावित्री—"तुम्हें एक और बात सुना दूँ, उन्होंने एक सभा स्थापित की है, जिसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि इस प्रथा को उठा दिया जाए। पंजाब के कई शहरों में उनके व्याख्यान हो चुके हैं। अगले साल स्यालकोट भी आएंगे। यदि कहो तो मैं भी चली आऊँ। मगर एक शर्त है।"

रत्ना—"क्या?"

सावित्री—"तुम्हें व्याख्यान की समाप्ति पर उठकर कहना होगा कि परदा बुरी प्रथा है, और मैं आज से इसे प्रणाम करती हूँ।"

रत्ना—"मुझसे यह आशा न रखो। यदि केवल स्त्रियों की सभा हो तो मैं तुम्हारी वह गत बनाऊँ कि उठकर भाग जाओ। एक मिनट भी न ठहरो।"

सावित्री—"बड़ी तीसमारखां हो। सभा में खड़ा कर दें तो पसीना आ जाए, ज़बान न खुले। बल्कि मेरा तो ख्याल है, थर-थर काँपने लगो।"

रत्ना ने ज़ोर से हँसकर कहा—"बहन, यह तो सोलह आने ठीक है। मगर क्या तुम वहाँ भी ताड़-ताड़ कर बोलती जाओ।"

सावित्री—"हर्ज क्या है? कोई मुँह में थोड़ा ही डाल लेगा?"

रत्ना—"परन्तु मैं तो एक शब्द भी न बोल सकूँ। बोलना चाहूँ, जब भी मुँह न खुले। आदमी देखकर ही घबरा जाऊँ।"

सावित्री—"और यह परदे का सबसे बुरा परिणाम है। यह स्त्री-जाति को बोदा बना देता है। इससे उनका साहस मर जाता है। उनकी वीरता नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि यदि किसी खतरे में पड़ जाएं तो मर जाएंगी, जान दे देंगी, मगर उनसे इतना न होगा कि डटकर खड़ी हो जाएं या शोर ही मचा दें।"

रत्ना—"और तुम क्या करो?"

सावित्री—"कोई टेढ़ी आँखों से भी देख जाए, तो जूते मार-मारकर सीधा कर दूँ ।"

रत्ना—"कहना आसान है पर समय पर किसी की भी हिम्मत नहीं पड़ती । हाथ नहीं उठते ।"

सावित्री—"अब अपने मुँह से क्या कहूँ; हाँ यदि समय आए तो दिखा दूँ कि हाथ उठते हैं या नहीं । अच्छा, तो हमारे घर के सब लोग तो राजी-खुशी हैं न ।"

रत्ना—"बिल्कुल ।"

सावित्री—(गाड़ी रुकते देखकर) "वज़ीराबाद आ गया । तुम्हें यहाँ उतरना होगा । मैं तो सीधी लाहौर जाऊँगी । लो ख़त लिखना, मेरा पता पुस्तक में देख लेना ।"

रत्ना अपने कपड़े ठीक करके खड़ी हो गई और मुँह पर घूँघट खींच लिया । सावित्री यह देखकर मुस्कराई और बोली—"स्यालकोट आऊँ या न आऊँ ?"

रत्ना—"न क्यों आओ, ज़रूर आओ । मैं अपना पता लिख भेजूँगी ।"

इतने में गाड़ी एक झटके के साथ खड़ी हो गई । सावित्री ने कहा—"मगर मेरी शर्त याद है ना—भरी सभा में यह कहना होगा, परदा बुरा ।"

रत्ना—(धीरे से) "पहले तुम किसी को सीधा करके तो दिखा दो, फिर मैं भी कह दूँगी परदा बुरा, बल्कि परदे को दूर ही हटा दूँगी ।"

और बात पूरी भी न होने पाई थी कि रत्ना का पति गाड़ी के सामने आकर खड़ा हो गया । रत्ना ने घूँघट और भी नीचे खींच लिया और गाड़ी से नीचे उतर गई ।

सावित्री ने हँसकर कहा—"कहीं गिर न जाइयो ।"

सहसा कई स्त्रियाँ कमरे में आ गईं । सावित्री देखती रह गई ।

उधर रत्ना लम्बा घूँघट निकाले मुसाफिरों के रेले में गिरती-पड़ती अपने पति के पीछे रवाना हुई। युवक पति भीड़ को दोनों हाथों से इधर-उधर हटाते हुए आगे बढ़ा जाता था, वह ग़रीब कभी कुली की तरफ़ देखता था, जो उसका असबाब उठाए आगे-आगे चल रहा था, कभी स्त्री की तरफ़ देखता था जो पीछे-पीछे आ रही थी।

(२)

सहसा रत्ना के मुँह से हल्की-सी चीख़ निकल गई। उसने बाएं हाथ से घूंघट को थोड़ा-सा ऊँचा उठाकर देखा, परन्तु उसे अपना पति कहीं दिखाई न दिया। किधर चले गए? अभी तो आगे-आगे जा रहे थे। मैं बराबर पीछे-पीछे चल रही हूँ। कहीं एक मिनट भी नहीं रुकी। फिर कहाँ ग़ायब हो गए? कहीं पीछे तो नहीं रह गए। रत्ना ने मुड़कर पीछे देखा, मुसाफ़िर दौड़ते हुए आ रहे थे। हरएक को जल्दी थी कि कहीं ऐसा न हो, गाड़ी निकल जाए, वह रह जाएं। मुसाफ़िरों की इस बाढ़ में रुकना आसान न था। रत्ना कहीं से कहीं जा पहुँची। तब वह हिम्मत करके भीड़ से बाहर निकली और सिर झुकाकर एक तरफ़ खड़ी हो गई। उसे आशा थी, पति खोज रहा होगा, मुझे देखकर इसी ओर चला आएगा। परन्तु कई मिनट बीत गए और उधर कोई भी न आया। रत्ना घबरा गई। क्या करे? अपने पति को कैसे ढूंढे? उसने अभी उसे देखा भी न था, न उसके वस्त्र पहचानती थी। उसे केवल यह मालूम था कि पति बादामी रंग का बूट पहने हैं। देखते-देखते कई आदमी बूटों वाले आए और तेज़ी से निकल गए, रत्ना के पास कोई भी न ठहरा। सारी गाड़ी में आदमी भरे थे। परन्तु रत्ना का आदमी कहां था? इतने में गाड़ी ने सीटी दी और इसके बाद चलने लगी। रत्ना को ऐसा मालूम हुआ जैसे यह गाड़ी नहीं जा रही, उसके प्राण जा रहे हैं, जैसे अब उसके लिए बचाव का कोई उपाय नहीं रहा है। देखते-देखते प्लेटफार्म ख़ाली हो गया। कुली और खोंचे वाले भी दूसरे प्लेटफ़ार्म पर चले गए। अभी वहां कितनी भीड़ थी, कितना शोर था, कान पड़ा शब्द सुनाई

न देता था, मगर अब वहां सिवाय एक बिछुड़ी हुई नव-विवाहिता युवती के कोई भी न था। रत्ना ने दीवार की ओर मुँह फेर लिया और अपने दुर्भाग्य पर रोने लगी।

सन्ध्या समय रेलवे का एक बाबू उधर से गुज़रा। वह ड्यूटी समाप्त करके अपने घर जा रहा था। रत्ना को देखकर ठिठक गया। यह युवती कौन है? कोई पुरुष भी निकट नहीं। सारा प्लेटफ़ार्म खाली है, अकेली क्या कर रही है? एकाएक याद आया, मैंने इसे दुपहर को भी यहां देखा था, उस समय भी कोई साथ न था। ज़रूर यह गाड़ी से रह गई है। बाबू धीरे-धीरे आगे बढ़ा। रत्ना ने उसके पाँव की तरफ देखा; शायद बादामी बूटों वाला आ गया हो। परन्तु ऐसे भाग्य कहाँ? रत्ना ने ठंडी आह भरी और फिर सिर झुका लिया।

बाबू—(रत्ना को सिर से पाँव तक देखकर) "तुम यहाँ खड़ी क्या कर रही हो?"

रत्ना ने घूंघट और भी नीचे खींच लिया और उत्तर न दिया।

बाबू—"तुम्हारे साथ कोई मर्द भी है या नहीं?"

रत्ना ने सिर के इशारे से कहा—"नहीं।"

बाबू की आँखें चमकने लगीं, सिगरेट का कश लगाकर बोला—"तो तुम यहाँ अकेली कैसे आ गई? कहाँ से आ रही हो?"

रत्ना ने बहुत ही धीरे से उत्तर दिया—"गुजरात से।"

बाबू—"टिकट कहाँ है, दिखाओ, है, या नहीं?"

रत्ना को ऐसा मालूम हुआ जैसे मुँह सूख गया है, जैसे जीभ तालू से चिमट गई है। उसने बोलना चाहा मगर शब्द गले में फँस गए। इस समय ख़्याल आया, कल आराम से अपने घर बैठी थी; आज...। रत्ना का गला रुन्ध गया।

बाबू—(ज़रा सख्ती से) "तुम्हारा टिकट कहां है? बोलती हो या नहीं।"

रत्ना थर-थर काँपने लगी, बोली—"मुझ पर कृपा कीजिए, भगवान् आपका भला करेगा।"

बाबू—(रोआब से) "टिकट लाओ, टिकट।"

रत्ना—(सिसकियां लेकर) "टिकट तो उनके पास है।"

बाबू—"तो उनको बुलाओ, कहां हैं ?"

रत्ना ने ठण्डी आह भरी और कहा—"अब बाबू जी मुझे क्या मालूम कहाँ हैं ? भीड़ में साथ छूट गया, फिर पता ही नहीं चला कि कहां चले गए।"

बाबू—"अजीब बात है कि पति अपनी स्त्री को यों छोड़ जाए। पर ख़ैर, हमें इससे क्या ? किराया दो।"

बिल्ली के पंजे में फँसकर चूहे की भी ऐसी दशा न होती होगी जो इस समय रत्ना की थी। ख्याल आया; कदाचित् यहां सावित्री ही होती।

बाबू ने चारों तरफ़ देखा, बिल्कुल सुनसान था। तब उसने रत्ना के पास खिसककर धीरे से कहा—"कहो तो अपने पास से किराया देकर रसीद काट दूँ। क्या हर्ज है। हां, एक बार मुस्कराकर कह दो। हमारा दिल इतने ही में खुश हो जाएगा।"

रत्ना के कानों में मानो किसी ने गर्म सीसा उंडेल दिया। वह छोटी थी, परन्तु मूर्खा न थी। सब कुछ समझती थी। उसका जी चाहता था उस पिशाच का मुँह नोच ले, अगर बस चले तो गर्दन मरोड़ दे। मगर क्रोध होते हुए भी उसके हृदय में हिम्मत न थी। निर्बल को क्रोध चढ़ता है तो रोता है। इससे अधिक वह और कर भी क्या सकता है ? रत्ना भी रोने लगी।

(३)

एकाएक बाबू चौंक पड़ा। प्लेटफ़ार्म के दूसरे सिरे पर कोई स्त्री आ रही थी। थोड़ी देर में वह आकर इनके सामने खड़ी हो गई ! रत्ना को हौसला हो गया, उसने उसके कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"बहन ! मुझे बचाओ। यह दुष्ट......।"

इसके आगे वह कुछ न सह सकी, परन्तु स्त्री ने सब कुछ समझ लिया। उसकी आँखों से आग की चिंगारियाँ निकलने लगीं। उसने बाबू को क्रोध-पूर्ण आँखों से देखा और कहा—"तुम्हारी अपनी माँ-बहन कोई है, या नहीं?"

रक्षा उछल पड़ी—यह तो सावित्री है। उसकी जान में जान आ गई, जैसे डूबते हुए को किनारा हाथ आ जाए। अब उसे कोई भय, कोई आशंका न थी। पहले सोचती थी, घर कैसे पहुँचूँगी, अब यह भी चिन्ता न थी। इस समय वह अपने आप को ऐसी सुरक्षित समझती थी, जैसे अपने घर में खड़ी हो, जैसे माँ की गोद में बैठी हो।

सावित्री ने बाबू से डांटकर फिर पूछा—"तुम्हारे घर में माँ-बहन कोई है, या नहीं जो भले घर की बेटियों को तंग करते हो?"

बाबू पर रोआब छा गया। ज़रूर यह किसी बड़े घर की स्त्री है, अजब नहीं पढ़ी-लिखी भी हो। वर्ना ऐसी निर्भयता से कभी बात न करती। सोचने लगा, कैसे छुटकारा हो? थोड़ी देर बाद बोला—"मैंने तो केवल इतना ही कहा था कि या टिकट दिखाओ, या किराया दो। इससे ज्यादा एक शब्द भी नहीं कहा, मगर यह इसी पर रोने लगी।"

सावित्री ने रक्षा के मुँह के पास कान ले जाकर पूछा—"किराया ही माँगता था, या कुछ और कहता था।"

रक्षा ने सावित्री के कान में बहुत ही धीरे से कहा—"कहता था ज़रा मुस्करा के दिखा दो तो तुम्हारा किराया मैं दे दूँ।" यह कहकर वह फिर रोने लगी।

सावित्री ने यह सुना तो उसकी आँखों में खून उतर आया; बोली—"तुम्हारा नाम क्या है?"

बाबू—"तुम मेरा नाम पूछने वाली कौन हो?"

सावित्री—(दांत पीसकर) "मैं कोई हूँ इससे क्या? तुम अपना नाम बताओ।"

बाबू के देवता कूच कर गये। मगर साहस करके बोला—"वाह

चली है मुझ को धमकाने, उससे नहीं कहतीं कि बिना टिकट के गाड़ी पर क्यों सवार हुई थी ?"

सावित्री ने आगे बढ़कर अपना हाथ उसकी गर्दन पर रख दिया और उसे झंझोड़कर बोली—"अपना नाम बताओगे या नहीं ? (रोआब से) बोलो, तुम्हारा नाम क्या है, मैं तुम्हारी रिपोर्ट करूँगी।"

जब हम निराश होते हैं तो हम में साहस आ जाता है। बाबू भी निराश होकर दिलेर हो गया। उसने सावित्री का हाथ परे हटाकर कहा—"ख़बरदार! मैं तरह दिये जाता हूँ, तुम तेज़ होती जा रही हो। अगर मैंने कुछ कह दिया, तो तुम्हारी आबरू मिट्टी में मिल जाएगी।"

अब सावित्री से सहन न हो सका। एक क्षण में उसने अपने पाँव से जूता निकालकर बाबू के सिर पर दो चार जमा दिये। यह कोलाहल सुनकर स्टेशन के दो-चार और बाबू भी कुछ दूरी पर आ खड़े हुए थे। वह हैं हैं करते ही रह गये और बाबू साहब की कपाल-क्रिया हो गई। लड़ाई में जो पहले लगा दे वही जीत जाता है, बाबू किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। वह बौखला-सा गया था। उससे इतना भी न हुआ कि सावित्री को परे ही धकेल दे। जब जूते पड़ चुके तो दूसरे बाबुओं ने आकर बीच-बचाव कर दिया। एक ने कहा—"आपने जूते मारने में ज्यादती की, वैसे मुँह से जो चाहतीं कह लेतीं, हर्ज न था।"

मगर सावित्री सिंहनी के समान गुर्रा कर बोली—"आप जूतों की कहते हैं, मेरा जी चाहता है, इस चाण्डाल का लहू पी जाऊँ। किसी युवती का अपमान क्या हँसी-खेल है ?"

बाबू हत-बुद्धि-सा खड़ा था जैसे मुँह में ज़बान ही न हो। वह अब भी काँप रहा था, मगर यह वह नहीं काँपता था, उसके अपने पाप काँपते थे। एक बाबू उसे पकड़कर बाहर ले गया। तीसरे बाबू ने कहा—"यह किसी की सुनता ही न था। आपने आज सबक़ दे दिया। खूब पिटा।"

सावित्री—"अगर आप न आ जाते, तो अभी और भी पिटता, मैं

इसे दाल-आटे का भाव बता देती।"

चौथा—"बहन! मेरा तो जी खुश हो गया। जो भले घर की स्त्रियों पर कुदृष्टि डाले, वह हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं। कैसा चुप था! जानता था, यह सब मेरे दुश्मन खड़े हैं। बात बढ़ी तो सब के सब विरुद्ध हो जायंगे, मेरे पक्ष में एक भी न होगा।"

तीसरा—"मगर आपने बड़ी वीरता का कार्य किया। यदि ऐसी दो-चार घटनायें हर महीने हो जाएं तो बदमाशों को भी कान हो जायें। फिर किसी की तरफ़ आँख भी न उठायें।"

सावित्री—"ग़रीब लड़की पति से बिछुड़ गई है। उसकी सहायता तो क्या करेगा, उलटा उसको तंग करता है। इसका नाम क्या है, मैं इसकी रिपोर्ट करूँगी!"

दूसरा—"अब जाने दें। कहीं नौकरी छूट गई तो मारा जायेगा। आपने जो शिक्षा दी है, उसे जल्दी नहीं भूलेगा।"

यह कहकर बाबू चले गये। सावित्री और रक्षा एक बैंच पर बैठकर बातें करने लगीं।

रक्षा ने सावित्री की तरफ श्रद्धा-भाव से देखकर कहा—"बहन! तुमने मुझे बचा लिया, वर्ना पता नहीं क्या हो जाता। मैं तो काँप रही थी, मगर तुम्हारी आवाज़ सुनते ही मेरी चिन्ता मिट गई। विश्वास हो गया कि अब कोई भय नहीं।"

सावित्री—"और जो मैं भी तुम्हारे ही जैसी होती तो?"

रक्षा—"जिस समय तुमने जूते लगाने आरम्भ किए उस समय तो मुझे आनन्द आ गया। एक बार मेरे जी में भी आया कि बढ़कर एक लगा दूँ।"

सावित्री—(आश्चर्य से) "अरे तुम्हारे मन में!"

रक्षा—"परन्तु तुम यहां कैसे आ गईं; मैं तो समझती थी, तुम लाहौर जा पहुँची होगी।"

सावित्री—"तुमने मुझको याद किया था या नहीं?"

रज्ञा—"किया था।"

सावित्री—"बस-बस उसी समय उड़कर यहां आ गई। तुम से आज ही तो प्रतिज्ञा की थी कि श्रद्धा से याद करोगी तो तत्काल पहुँच जाऊँगी।"

रज्ञा—"नहीं, सच बताओ।"

सावित्री—(हँसकर) "तुम्हारे चले आने के बाद यहां की एक सखी मिल गई। अपनी भाभी को विदा करने आई थी। मुझे देखकर लिपट गई कि लेकर जाऊँगी। बहुत इन्कार किया, मगर उसने एक न सुनी। कहा, अब न जाने दूँगी; सायंकाल चले जाना। क्या करती, उतरी और उन्हें तार भिजवा दिया कि रात को आऊँगी, स्टेशन पर चले आना।"

रज्ञा—"अब रात को अकेली जाओगी। बहन तुम्हें नमस्कार है।"

सावित्री—(मुस्कराकर) "तुम साथ चली चलो, पहुँचाकर चली आना, क्यों ?"

रज्ञा—"मैं क्या जाऊँगी। (थोड़ी देर के बाद) तुम्हारी सहेली को परमेश्वर ने मेरे लिए ही भेज दिया था। मिल जाए तो पांव चूम लूँ।"

सावित्री—"और मेरे हाथ नहीं चूमती, जिन्होंने उसकी खोपड़ी शुद्ध कर दी है।"

रज्ञा की आँखों में पानी भर आया, सावित्री का हाथ दबाकर बोली—"मेरे शरीर का एक-एक रोयां तुम्हारा ऋणी है। जब तक जीती हूं, यह उपकार न भूलेगा। तुमने मेरे प्राण बचा लिए हैं। कितनी भयानक घड़ी थी ! अब भी ख्याल आता है तो कलेजा काँप उठता है। उस समय तुम्हारे रूप में स्वयं भगवान् आ गए। और क्या ?"

सावित्री—"अब किसी से छेड़छाड़ न करेगा।"

रज्ञा—"तुम्हारा अद्वितीय साहस देखकर मैं चकित रह गई। तुम उसे डांटती थीं, मैं हैरान हो रही थी। सोचती थी, एक मैं हूँ जो भीगी

बिल्ली बने काँप रही हूँ, एक यह है जो सिंहनी-समान गरज रही है।"

सावित्री—"परन्तु यह हुआ क्या? बहनोईजी कहाँ चले गये?"

रत्ना—(चिन्ता भाव से) "यह मुझे भी मालूम नहीं। जब गाड़ी आई है, तो मेरे आगे-आगे चल रहे थे। इसके बाद भगवान् जाने, कहां ग़ायब हो गये?"

सावित्री ने थोड़ी देर सोचकर कहा—"मेरे विचार में उन्होंने भूल से किसी अन्य युवती को अपनी स्त्री समझ लिया है। उसके कपड़े भी तुम्हारे ही तरह होंगे। सम्भव है उसका भी गौना हुआ हो। महंदी वाले हाथ और चूड़े वाली बांह देखकर धोखा खा जाना साधारण बात है। ऐसा प्रायः होता रहता है। स्यालकोट जाकर बात खुलेगी तो भागे-भागे आएंगे। शायद इसी गाड़ी में आ जाएं!"

रत्ना—"उनकी भूल हो गई, मेरी मौत में सन्देह न था।"

सावित्री—(छेड़कर) "ज़रा घूँघट और खींच लो। बोल, अब भी परदे को प्रणाम करोगी या अभी कुछ और देखने की अभिलाषा है?"

रत्ना ने मुँह से कुछ उत्तर न दिया, मगर उसके मन में हलचल मची हुई थी। सोचती थी, कहती तो ठीक है। यदि परदा न होता, तो इस संकट की सम्भावना ही न थी, साथ-साथ चली जाती। यदि पीछे रह भी जाती तो भी खोज लेना कठिन न था। मैं समझती थी, परदा न करने से निर्लज्जता आ जाती है, परन्तु मेरा ख्याल ग़लत निकला। उल्टा यह सिद्ध हो गया कि परदा साहस का गला घोंट देता है। जो परदा करेगी, उसमें वीर-भाव न होंगे। फिर इसमें और सहस्रों अवगुण भरे हैं। दो मील की यात्रा हो, पुरुष साथ चले। एक यह वीर रमणी है है कि अकेली सफ़र करती है। क्या मजाल कि कोई आँख उठाकर देख भी जाए। परन्तु फिर विचार आता लोग क्या कहते होंगे? यही कि इस स्त्री में लज्जा नाम को नहीं। कैसे मुँह खोलकर चलती है? स्त्रियाँ

अलग ताने मारेंगी। हाय, दुनिया की ज़बान! हाय, दुनिया की झूठी लाज!"

आध घण्टे के बाद स्यालकोट से गाड़ी आई, तो उसमें रक्षा का पति रामजीदास भी था। बेचारा घबराया हुआ था, मुँह पर वह कान्ति ही न थी। ऐसा मालूम होता था, जैसे राह में रोता आया है। गाड़ी से उतरकर वह चुप खड़ा हो गया। सावित्री ने उसे देखते ही पहचान लिया और संकेत से अपने पास बुलाकर पूछा—"क्यों, आप किसे देख रहे हैं?"

रामजीदास—"क्या कहूँ? मैं आज......" एकाएक उसकी दृष्टि रक्षा की ओर उठ गई, जो लज्जा से सिमटे-सिमटाए बैंच पर बैठी थी। वह चौंक पड़ा और टिकटिकी लगाकर उसकी ओर देखने लगा। सोचता था, यही तो नहीं है?

सावित्री ने त्योरी चढ़ाकर कहा—"आप उधर क्या देखते हैं? शर्म नहीं आती स्त्री की ओर घूर-घूरकर देख रहे हैं। बुलाऊँ किसी पुलिस के आदमी को?"

रामजीदास का मुँह उतर गया, धीरे से बोला—"मेरी स्त्री खो गई है। उसके भी ऐसे ही वस्त्र थे।" यह कहते-कहते उसकी पलकें भीग गईं।

सावित्री ने मुस्कराकर कहा—"अरे! स्त्री खो गई। बड़ी अजीब बात है। इधर इस ग़रीब का पति न मालूम कहाँ चला गया? आप स्यालकोट से आ रहे हैं क्या? हाँ, वहीं से तो यह गाड़ी आ रही है। उसे देखें तो पहचान लें या नहीं?"

रामजीदास की आँखें फिर चमकने लगीं। हिचकिचाकर बोला—"उसे तो क्या पहचानूँगा, हाँ उसके कपड़े पहचान सकता हूँ। ठीक ऐसे ही थे। मेरा विचार है, यही है।"

सावित्री—"एकदम विचित्र समस्या है। न पति स्त्री को पहचानता है, न स्त्री ने पति को देखा है।"

रामजीदास को और भी आशा हो गई। समझा स्त्री मिल गई। शान्ति की साँस लेकर बोला—"स्यालकोट से यहाँ तक जैसे आया हूँ, परमेश्वर ही जानता है। अब सन्तोष हुआ।"

सावित्री—"परन्तु बाबू साहब ! यह कैसे निश्चय हो कि यह आपकी ही स्त्री है; किसी और की नहीं।"

यह कहते-कहते सावित्री को हँसी आ गई। रामजीदास का रहा-सहा सन्देह भी मिट गया। बोला—

"बहन जी ! अब न बनाइए, बहुत बन चुका हूँ। दिल अभी तक धड़क रहा है।"

सावित्री—"और जिस समय इस निस्सहाय अबला को यहाँ छोड़कर चले गए थे, उस समय इसका दिल तो नाचने लग गया होगा, क्यों ?"

रामजीदास—"अब क्या कहूँ ? भीड़ में जा रहा था, इतने में क्या देखता हूँ कि एक युवती ज़नाना डिब्बे में सवार हो रही है। इतनी ही आयु थी, ऐसे ही कपड़े थे। मैं समझा, यही है। निश्चिन्त होकर साथ के डिब्बे में जा बैठा। स्यालकोट पहुँचे तो पता लगा कि यह तो कोई और है।"

सावित्री—"तो जाइए, भागकर मिठाई लाइए। मुँह मीठा किए बिना स्त्री न दूँगी। परन्तु स्यालकोट तक ले जा सकेंगे आप इसे ?

रामजीदास—"क्यों ?"

सावित्री—"कहीं फिर न खो दें, मुझे यही भय है।"

रामजीदास—"अब और लज्जित न कीजिए। यह शिक्षा सारी उम्र न भूलेगी।"

सावित्री ने सारी बात सुनाई। रामजीदास उसके साहस और आत्मिक शक्ति पर चकित हो या। बोला—"आपके उपकारों से मेरी गर्दन झुकी रहेगी। ऐसा बल और तेज स्त्रियों में आजाए तो हमें ज़रा कष्ट न हो।"

सावित्री—"यह सब आप ही के हाथों में है, चाहें तो आज स्त्रियाँ शेर हो जाएँ। खैर, अब आज्ञा दीजिए, मेरी गाड़ी का समय हो गया है। फिर मिलेंगे तो बातें होंगी।"

रामजीदास—(बड़े आग्रह से) "बहन जी! अपना पता तो देते जाइए। भाई साहब को धन्यवाद का पत्र लिख दूँ।"

सावित्री—"पता रत्ना से पूछ लेना। बाक़ी रहा धन्यवाद का पत्र, सो तुम्हारे भाई साहब इसके भूखे नहीं। स्त्री का बन्धन काटो।" यह कहकर उसने रत्ना को गले लगाया और दूसरे प्लेटफार्म की ओर चली गई।

(४)

कई महीने बाद दोनों सखियों का गाड़ी ही में फिर मिलाप हुआ। परन्तु अब रत्ना वह रत्ना न थी। मालूम होता था, जैसे किसी स्वतन्त्र देश की स्वतन्त्र रमणी चली आ रही है। घूँघट, वह परदा नाम को भी न था। उसके पीछे-पीछे कुली असबाब लिए आ रहे थे। रत्ना भी उसी कम्पार्टमेण्ट के सामने आकर खड़ी हो गई, जिसमें सावित्री बैठी अपने मायके जा रही थी। रत्ना ने कुलियों से कहा, असबाब रख दो। रख चुके, तो उनको मजदूरी दी और शान्ति से गाड़ी में बैठ गई। सावित्री ने यह सारा दृश्य देखा तो उसका हृदय-कमल खिल गया। बोली, "वाह बहन! अब तो बड़ी बहादुर बन गई।"

रत्ना ने चौंककर सिर उठाया तो सामने सावित्री बैठी थी। रत्ना उछलकर उसके गले से लिपट गई और बोली—"बहन जी! मैं तो निराश हो चुकी थी। मुझे आशा न थी कि अब तुमसे मेल होगा। तुम्हारे मकान पर दो बार गई, दोनों बार जबाब मिला, लाहौर से बाहर हैं। आज जाते-जाते दर्शन हो गए। जी खुश हो गया।"

इतने में रामजीदास खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया और रत्ना से बोला—"असबाब रखा गया?"

रत्ना ने मुस्कराकर कहा—"देखिए, बहन जी मिल गईं, नमस्ते कर

लीजिए। क्या मालूम, कहाँ उतर जाएँ।"

रामजीदास ने झुककर सावित्री को नमस्ते की और कहा—"दो बार गए, पर आप न मिले। भाई जी कहाँ हैं? और आप कहाँ जा रही हैं?"

सावित्री—"साथ की गाड़ी में बैठे हैं, गुजरात उतरेंगे; अच्छा अब जाकर बैठ जाइये, नहीं गाड़ी छूट जाएगी।"

रामजीदास चला गया, गाड़ी चलने लगी।

सावित्री ने पूछा—"रत्ना! वह घूँघट कहाँ है?"

रत्ना ने मुस्कराकर उत्तर दिया—"वज़ीराबाद के स्टेशन पर छोड़ दिया।"

सावित्री—"लोग देख-देखकर हँसते होंगे।"

रत्ना—"शौक़ से हँसें। यहाँ अपना बिगड़ता ही क्या है?"

सावित्री—"स्त्रियाँ तो कहती होंगी, बड़ी निर्लज्जा है, खुले मुँह चलती है।"

रत्ना—"उस मुहताजी से यह निर्लज्जता भली। अब पग-पग पर खीजना तो नहीं पड़ता। अभी चले आ रहे थे, पुल पर उनके एक पुराने मित्र मिल गए। कई वर्ष बाद मिले थे, दो बातें करने खड़े हो गए। परदा होता, तो वहीं खड़ी रहती, जैसे क़ैदी बेड़ियाँ पहने हो। गाड़ी पर सवार होना मुश्किल हो जाता।"

सावित्री—"मगर यह काया-पलट कैसे हो गई? कहाँ वह पार्सल; कहाँ यह चहकने वाली चिड़िया? आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।"

रत्ना—"बड़ी लम्बी कहानी है बहन, (ठण्डी साँस लेकर) यह स्वतन्त्रता की हवा बड़ी महंगी मिली है। ऐसे-ऐसे विरोध हुए कि तुमसे क्या कहूँ? परन्तु शाबास है उनको, ज़रा नहीं घबराए।"

सावित्री—(शौक़ से) "बहन! सारा हाल सुनाओ। ओस की बूँद से प्यास नहीं बुझती।"

रत्ना—"बहन! स्यालकोट जाकर उन्होंने घरवालों से साफ़ कह दिया कि मैं तो परदा न कराऊँगा। घरवाले सन्नाटे में आ गए। उनको

कभी सन्देह न था कि लड़का यों हाथ से निकल जाएगा। कई दिन तक समझाते रहे; परन्तु उनपर ज़रा भी प्रभाव नहीं हुआ, बोले—"आपकी यह बात तो कभी न मानूँगा। दो दिन झगड़ा होता रहा, तीसरे दिन प्रातःकाल मुझे घूमने के लिए बाहर ले गए। जब वापस आए तो सभी के मुँह डेढ़े थे, सीधे मुँह से कोई बात न करता था। सास ने मुझे सुनाकर कहा—'चलो! और नहीं मेम तो बन गई है। गौन पहन ले तो रही-सही कसर भी निकल जाए। लाहौर जाकर कुछ तो सीखा'।"

भाभी ने जवाब दिया—"राम का इसमें ज़रा भी दोष नहीं। यह सब इसी रानी का काम है। चाहती है अलग हो जाऊँ, मगर मुँह से एक शब्द भी नहीं निकालती। आग लगाती फिरती है।"

सास—"नहीं बेटी, राम ही बिगड़ गया है। इसका क्या है? जो कहेगा करेगी।"

भाभी—"यह चाहे, तो उसकी एक भी पेश न जाए। कहे, भई! मैं तो परदा करूँगी। मगर नहीं, हमारे सामने मिन-मिन करती है, एकान्त में आग पर तेल छिड़कती है।"

सास ने कहा—"यह तो ठीक है। स्त्री चाहे तो सब कुछ कर सकती है।"

"इसके बाद बहन! मुझ पर जो कुछ बीती, वह मैं ही जानती हूँ। सारा घर विरुद्ध था, पक्ष में कोई भी न था। कोई इतना भी न पूछता था कि ग़रीब ने भोजन भी किया है या नहीं? हाँ, ताने मारने में सभी शेर थे। मैं सारा दिन रोती रहती थी कि कहाँ आ फँसी! इसी रोने-धोने में पन्द्रह दिन बीत गए।

एक दिन साँझ के समय जबकि आसमान पर बादल छाए हुए थे, ससुर जी बाहर से आते ही बोले—"इस लड़के ने तो जीना हराम कर दिया।"

सास जी ने पूछा—"क्यों, क्या हुआ?"

ससुर—"होना क्या है? सारा बाज़ार खिल्ली उड़ाता है। मुझे

देखते हैं तो सुना-सुनाकर बातें करते हैं। जी में आता है, ज़हर खा लूँ।"

सास—"ज़हर खाएँ तुम्हारे दुश्मन। तुम ज़रा डाँट क्यों नहीं देते ?"

ससुर—"अब किस-किस को डाँटूँ ? सारा बाज़ार हँसता है। आज तो मैं इसका फ़ैसला ही कर देना चाहता हूँ। राम घर में है या नहीं ?"

सास—"बाहर गया है, अब आता ही होगा। पर ज़रा प्यार से बोलना। आख़िर बच्चा है।"

इतने में वह भी आ गए। मैं डर गई। ससुर जी ने उन्हें देखते ही कहा—"सुनो भई ! मेरे घर में यह बेहयाई न चलेगी। या परदा करो, या घर से निकलो। बोलो, क्या स्वीकार है ?"

वह—"अब यह परदा इतना प्यारा हो गया।"

ससुर—"इससे भी प्यारा !"

वह—"क्या लड़के से भी ज़्यादा ?"

ससुर—"लड़के से नहीं, जान से भी ज़्यादा। मैं परदे को अपनी कुल-मर्यादा ख्याल करता हूँ।"

वह—"बहुत अच्छा ! मैं घर छोड़ दूँगा।"

सास बोली—"पिता के सामने यों बोलते लाज नहीं आती। कह दे, जो आप चाहें करें, मैं आपसे बाहर नहीं हूँ।"

ससुर—"तो तुम्हारा यही निश्चय है ? एक बार फिर सोच लो।"

वह—"जो सोचना था सोच चुका।"

ससुर—"तो आप यहाँ से तशरीफ़ ले जाएँ और अपनी स्त्री को भी ले जाएँ। आज से मेरे लिए तुम मर गए, तुम्हारे लिए मैं मर गया।"

यह कहते-कहते ससुरजी उठकर अन्दर चले गए, सासजी रोने लगीं। उन्होंने बेटे को बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। देखते-देखते वह तैयार हो गए। उन्होंने घर की कोई वस्तु भी साथ न ली, यहाँ तक कि दहेज़ का सारा सामान भी वहीं छोड़ दिया। मुझसे बोले, 'चलो।'

मैं चुपचाप खड़ी हो गई।

उन्होंने माँ से कहा—"देख लो, मैं सब कुछ यहीं छोड़े जाता हूँ।"

भाभी चमककर बोली—"छोड़े कैसे जाते हो, वह रानी तो ज़ेवरों से लदी हुई है।"

वह बात मुझे ऐसी बुरी मालूम हुई, जैसे घाव पर नश्तर लग जाए, मगर मुँह से कुछ न कहा। एक आह भी न निकलने दी।

वह बोले—ज़ेवर भी उतार दो। किसी प्रकार इस चुड़ेल का कलेजा ठंडा हो।" मैं आभूषण उतारने लगी। सासजी ने रोकर कहा—"बेटी रहने दे, अरी क्या करती है ? वह तो पागल हो गया है।"

मगर उन्होंने कहा—"उतार दे ! परमात्मा देगा, पहन लेंगे; न देगा, न पहनेंगे।"

मैंने सारे आभूषण उतार दिए और उनके पीछे-पीछे बाहर निकल आई। सासजी रोकती ही रह गईं, मगर हम चले आए। गली के मोड़ पर पहुँचे तो आसमान भी रोने लगा। मैंने ठिठककर कहा—'पानी बरस रहा है।'

वह—"तुम काग़ज़ की गुड़िया नहीं हो कि गल जाओगी, चुपचाप चली आओ।"

"रात का समय था, बादल बरस रहा था, ठंडी हवा चल रही थी, बिजली चमक रही थी और हम दोनों स्त्री-पुरुष घर से निकलकर वर्षा में भीगते, सरदी में काँपते, भूखे-प्यासे स्टेशन की तरफ़ जा रहे थे।"

(५)

इतना कहकर रक्षा चुप हो गई। सावित्री ने उसको स्नेहपूर्ण नेत्रों से देखा और कहा—"तुम दोनों ने बड़ी वीरता का काम किया, तुम वीरात्मा हो। परमात्मा तुम्हें इतना दें कि तुम संभाल न सको।"

इसके बाद बहुत देर तक दोनों चुप रहीं। आख़िर सावित्री ने पूछा—"अब कहाँ जा रहे हो ?"

रक्षा—"हमारी बदली हो गई। रावलपिंडी जा रहे हैं !"

इतने में वज़ीराबाद का स्टेशन आ गया। रक्षा सावित्री को लेकर नीचे उतरी और बोली—"ज़रा मुझे स्यालकोट के प्लेटफार्म पर ले चलो।"

सावित्री उसे वहीं ले गई। रत्ना ने चारों तरफ़ देखा, और तब उस दीवार के सामने जा पहुँची, जहाँ दो मास पूर्व वह सहमी हुई खड़ी थी। उस समय वह स्थान कितना भयानक था, मगर आज उसके लिए वह दीवार मन्दिर से कम न थी। रत्ना को ऐसा मालूम हुआ, जैसे वह दीवार मुस्करा रही है, जैसे उससे बातें कर रही है। यहाँ आकर उसको स्वर्ग का राज्य मिल गया। उसने सावित्री से कहा—"बहन ! यही वह स्थान है, जहाँ मेरी काया-पलट हुई। यहीं मेरे बन्धन खुले, यहीं पर मुझे स्वतन्त्रता का वरदान मिला। यह स्थान मेरे लिये तीर्थ से भी बढ़कर है।"

यह कहते-कहते उसका गला भर आया। इतने में सावित्री ने चौंक-कर एक बाबू की तरफ़ इशारा किया और कहा—"वह देखो कौन है, कुछ जानती हो ?"

रत्ना—"नहीं।"

सावित्री—(मुस्कराकर) "तुम्हारे तीर्थ का देवता है। वही बाबू, जिसकी उस दिन मैंने जूतों से पूजा की थी। इसे भी प्रणाम कर लो।"

बाबू ने सावित्री को देखा तो उसके चेहरे का रंग फक हो गया। वह जिधर से आ रहा था, उधर ही वापस चला गया।

रत्ना ने हँसकर सावित्री की तरफ़ देखा और कहा—"बहन ! इस तीर्थ का देवता वह तो क्या होगा, हाँ तुम इसकी देवी अवश्य हो, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ।"

थोड़ी देर बाद दोनों गाड़ी में जा बैठीं।

अपनी कमाई

प्रातःकाल अमीर बाप ने आलसी और अरामतलब बेटे को अपने पास बुलाया और कहा—"जाकर कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन न मिलेगा।"

लड़का बेपरवाह, दुर्बल और निर्लज्ज था। परिश्रम करने का उसे अभ्यास न था। सीधा अपनी मां के पास गया और रोने लगा। माता ने बेटे की आँखों में आँसू और उसके मुख पर चिन्ता और शोक की मलीनता देखी, तो उसकी ममता बेचैन हो गई। उसने अपना सन्दूक खोला और एक पौंड निकालकर बेटे को दे दिया।

रात को बाप ने बेटे से पूछा—"आज तुमने क्या कमाया ?" लड़के ने जेब से पौंड निकालकर बाप के सामने रख दिया।

बाप ने कहा—"इसे कुँए में फैंक आ।"

लड़के ने तत्परता के साथ पिता की आज्ञा का पालन किया।

अनुभवी पिता सब कुछ समझ गया। दूसरे दिन उसने स्त्री को मैके भेज दिया।

तीसरे दिन उसने फिर लड़के को बुलाया और कहा—"जा कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन नहीं मिलेगा।"

लड़का अपनी बहन के पास जाकर रोने लगा। बहन ने अपना सिंगारदान खोला, उसमें से एक रुपया निकाला और भाई को दे दिया।

रात को बाप ने बेटे से पूछा—"आज तुमने क्या कमाया?"

लड़के ने जेब से रुपया निकाल कर बाप के सामने रख दिया।

बाप ने कहा—"इसे कुँए में फैंक आ।"

लड़के ने तत्परता के साथ आज्ञा का पालन किया।

अनुभवी पिता सब कुछ समझ गया। दूसरे दिन उसने बेटी को सुसराल भेज दिया।

इसके बाद उसने एक दिन फिर बेटे को बुलाकर कहा—"जाकर कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन न मिलेगा।"

लड़का सारा दिन उदास रहा और उसकी आँखों से आँसू बहते रहे, परन्तु आँसुओं को देखने वाली प्यार की आँखें घर में न थीं। विवश होकर संध्या समय वह उठा और बाजार में जाकर मजदूरी खोजने लगा।

एक सेठ ने कहा—"मेरा सन्दूक उठाकर घर ले चल। मैं तुझे दो आने दूँगा।"

अमीर बाप के अमीर बेटे ने सन्दूक उठाया और उसे सेठ के घर पर पहुँचाया, लेकिन उसकी सारी देह पसीने में तर थी। पाँव काँपते थे और गर्दन और पीठ में दर्द होता था।

रात को बाप ने बेटे से पूछा—"आज तुमने क्या कमाया?"

लड़के ने जेब से दुवन्नी निकाल कर बाप के सामने रखदी।

बाप ने कहा—"इसे कुँए में फैंक आ।"

लड़के की आँखों से क्रोध की ज्वाला निकलने लगी। बोला—"मेरी गरदन टूट गई है और आप कहते हैं कुँए में फैंक आ।"

अनुभवी बाप सब कुछ समझ गया।

दूसरे दिन उसने अपना कार-बार बेटे के सुपुर्द कर दिया।

एक स्त्री की डायरी

[३ सितम्बर १६२१]

परमात्मा का लाख-लाख शुक्र है, जो ऐसा अच्छा घर मिला। घर क्या है, एक महल है। किसी वस्तु का अभाव नहीं, सब कुछ है। सच तो यह है, मेरे भाग खुल गए। मुझे स्वर्ग मिल गया। मैं जो कुछ चाहती थी, ब्याह से पहले मैंने परमात्मा से हाथ बांधकर जिस-जिस चीज़ के लिए प्रार्थना की थी, मुझे उससे भी अधिक मिल गया। घर से विदा होते समय जो चिन्ता, जो क्षोभ, जो धड़कन थी वह अब नाम को भी नहीं। मेरी सास बहुत हँसमुख है। मुख-कमल सदा खिला रहता है। मुझे देखकर बहुत खुश हुई और बोलीं—कैसी सुन्दर है, देखकर भूख मिट जाती है। दिन में कई बार आकर पूछती हैं—कोई तकलीफ़ तो नहीं? जिस चीज़ की ज़रूरत हो, मांग लेना, सँकोच न करना, अब यह तेरा अपना घर है। भोजन के समय सामने आ बैठती हैं और बड़ी साध से खिलाती हैं। दुपहर को बाजा लाकर सामने रख देती हैं, और कहती हैं—बजा। लाख नहीं करती हूँ; मगर कौन सुनता है? हारकर बजाना ही पड़ता है। उस समय उनका मुँह प्रसन्नता से चमकने लगता है। इतना आदर, इतना प्रेम मैके में भी न था। ससुर जी भोलेनाथ हैं। सासजी जो चाहें, करें, क्या मजाल जो किसी की बात में बोल जाएँ। दोनों समय भोजन पाने आते हैं और फिर मर्दाने में चले जाते हैं। हाँ, इतना पूछ लेते हैं—छोटी बहू उदास तो नहीं हो गई। सास जी मुस्करा-

कर उत्तर देती हैं—तुम अपना हुक्का पियो; तुम्हारी छोटी बहू के लिये मैं काफी हूँ। जेठानी जी भी बहुत अच्छे स्वभाव की हैं, मुझसे बहुत जल्द घुल-मिल गई हैं। सारा दिन पास बैठी रहती हैं। रात को भी दस बजे से पहले पीछा नहीं छोड़ती। जेठ जी कहीं बम्बई में नौकर हैं, पाँच सौ के लगभग वेतन पाते हैं।

बाक़ी रह गये वे। उनके विषय में क्या लिखूँ। अत्यन्त हँस-मुख आदमी हैं। बात-बात में हँसते हैं और हँसाते हैं। ऐसा मधुर-भाषी, ऐसा सरल-हृदय, ऐसा रौनक़ी जीव मैंने कभी नहीं देखा। उनके चेहरे पर मुसकान सदा खेलती रहती है। मानो मुस्कराता हुआ चित्र हो, जो कभी उदास नहीं होता। चित्रकार ने एक बार मुस्कराते हुये बना दिया, अब सदा मुस्करा रहा है। यही अवस्था उनकी है। अपनी भाभी से बहुत प्यार है। आते हैं तो द्वार ही से भाभी-भाभी चिल्लाने लगते हैं। उनकी एक-एक बात की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं, ऐसी भाभी शहर भर में किसी की न होगी। भाभी भी उनको बहुत चाहती हैं। उनकी ज़रा-ज़रा-सी बात का ख्याल रखती हैं। उनके इस प्यार को देख मैं किसी दिव्य-लोक में पहुँच जाती हूँ। यह भाभी-देवर की मुहब्बत नहीं, माँ-पुत्र का प्यार है। यह सांसारिकता का नाता नहीं, बहन-भाई का सम्बन्ध है, कैसा पवित्र! कैसा उज्ज्वल!! कैसा उच्च-कोटि का!!!

[२७ सितम्बर १९२१]

आज मुझे ससुराल में आये हुए पूरा एक महीना हो गया। इस बीच में एक बार भी ख्याल नहीं आया कि किसी दूसरी जगह आ गई हूँ। ऐसा मालूम होता है, जैसे अपने घर में बैठी हूँ। हाँ, इतना भेद है कि अब मेरा अपना अस्तित्व बन गया है। इसके अतिरिक्त मेरी दुनिया में एक नवीन व्यक्ति का प्रवेश हुआ है और यह व्यक्ति कुछ ही दिनों में मेरा आवश्यक अंग-सा बन गया है। वे मुझे कितना चाहते हैं, मुझे देखकर उनकी कैसी हालत हो जाती है, शरारती आँखों से किस तरह मुस्कराते हैं, घर का कोई आदमी आ निकले, तो कैसे भोले-भाले बनकर

दूसरी तरफ देखने लगते हैं, यह बातें ऐसी नहीं कि इन पर विचार करूँ और हृदय में ब्रह्मानन्द की गुदगुदी न होने लगे। अलग जा बैठूँ, तब भी उधर से निकलने का कोई बहाना बना लेते हैं और प्रकट यह करते हैं कि जैसे मेरा ध्यान ही नहीं है, यद्यपि उनकी एकमात्र अभिलाषा यही होती है कि किसी प्रकार आँखें मिल जाएँ। स्वयं मेरी यह अवस्था है, चाहती हूँ पास ही बैठी रहूँ, और बातें करूँ। मुझे तो उनका दफ्तर जाना भी अखरता है। चले जाते हैं तो दिल उदास हो जाता है। जब उनके लौटने की बेला होती है, तो आँखें द्वार की ओर दौड़ती हैं। जानती हूँ कि घर के लोग कनखियों से देख रहे हैं। ज़रूर मन में हँसते होंगे। शायद दिल में सोचते हों, कैसी निर्लज्जा है, ज़रा ख्याल नहीं करती; मगर क्या करूँ, दिल नहीं मानता। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है, जैसे उनको कई सालों से जानती हूँ, जैसे हम सदा से एक साथ रहे हैं, कभी एक दिन के लिए भी जुदा नहीं हुए। एक दिन मुझसे कहने लगे—"प्रकाश ! तूने मुझ पर जादू तो नहीं कर दिया। जी चाहता है, दिन-रात तेरे ही पास बैठा रहूँ, तेरा मुँह देखता रहूँ।" मेरा मुँह लज्जा से लाल हो गया। क्या उत्तर देती, सिर झुकाकर चुप हो रही। फिर धीरे से मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोले—"तुझे यहाँ कोई कष्ट तो नहीं है, साफ़-साफ़ कह दे।" मैंने सिर उठाकर कहा—"मुझे यहाँ ज़रा भी तकलीफ़ नहीं।" इस समय मेरी आँखें उनकी आँखों से मिल गईं। कैसे शरारती हैं, इतनी-सी बात पर मुस्कराने लगे। मैं शरमा गई, और हाथ छुड़ाकर हट गई, मगर उन्होंने फिर अपना हाथ आगे बढ़ा दिया, और बोले—"मेम साहब ! शेक हैंड (Shake hand) करो।"

मैंने उनका हाथ झटक दिया और मुँह फेर लिया।

इस पर ऐसी गंभीरता से, जैसे व्याख्यान दे रहे हों, उच्च-स्वर में बोले—"सज्जनो ! आप इस बात के साक्षी हैं कि हमारी श्रीमती ने इस स्थान पर, दिन के प्रकाश में हमारा अपमान किया है और हमारा अत्यन्त सुकोमल और सुकुमार हाथ दुखा दिया है। इससे साफ़ सिद्ध

होता है कि यदि स्त्रियों को स्वाधीनता से इसी प्रकार विकास करने दिया गया तो भारतवर्ष के पति-परमेश्वरों को घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।"

मैंने हँसते-हँसते उनके मुँह पर अपना हाथ रख दिया और कहा—"आप यह क्या कर रहे हैं, कोई सुन ले तो क्या कहे ?"

इतने में बाहर किसी के पाँव की चाप सुनाई दी। मैंने घूँघट मुँह पर खींच लिया और दरवाज़े की तरफ़ पीठ करके खड़ी हो गई। यह इनकी भाभी थीं। खाँसकर कमरे में आ गईं और बोलीं—"क्यों कन्हैया! क्या हो रहा था, और यह तेरा चेहरा क्यों लाल हो रहा है ?"

मुझे आशा थी, वे संकोच से सिर न उठा सकेंगे। उनसे कोई जवाब न बन पड़ेगा; मगर मेरा ख्याल ग़लत निकला। उन्होंने तड़ से कहा—"इस स्त्री ने थप्पड़ मारा है, भाभी !"

भाभी जी हँस पड़ीं; मगर मेरा तो हँसी के मारे बुरा हाल था, लोटी जाती थी। मैंने दुपट्टे का आँचल मुँह में ठूँस लिया, परन्तु हँसी फिर भी न रुकती थी। उन्होंने मेरी तरफ़ संकेत करके भाभी से पूछा—"क्यों भाभी ! इस ग़रीब को कुछ खाने को भी मिलता है या नहीं ! मेरा ख्याल है, नहीं मिलता, तभी तो कपड़े खाती रहती है। देख लो, आधा दुपट्टा खा चुकी है !"

भाभी—"अब तू सामने बैठकर खिलाया कर।"

वे—शोक ! हमारी श्रीमती की कोई परवा नहीं करता !"

भाभी—"इस काम के लिए तू ठीक है।"

वे—"न भाभी ! मुझसे यह काम न हो सकेगा। कौन काम भी करें, थप्पड़ भी खाए।"

"भाभी—"तू इस काम के सिवा और किसी योग्य है ही नहीं। यह भी न करेगा तो और क्या करेगा ?"

वे—"इस श्रीमती से बाजा बजाना सीखूँगा। क्यों प्रोफेसर साहब ! आपको शागिर्द बनाने में कोई आपत्ति तो नहीं ?"

मैं हँसती भी थी, और हैरान भी थी कि कैसे आदमी हैं, ज़रा नहीं घबराते। भाभी ने कहा—"तू ख़ाक सीखेगा, तेरे भाग्य में यह चीज़ नहीं।"

वे—"वाह भाभी। भाग्य में क्यों नहीं। क्या यह हमारी श्रीमती नहीं है? जब चाहें बाजा बजाने लगें, जब चाहें इनकी दम-भरी तानों से हमारा कमरा गूँजने लगे। अब तुम जानो! हम ठहरे बड़े आदमी। हमें इस सिर-दर्द की क्या आवश्यकता है। यह बैठकर गाएगी, हम बैठकर सुनेंगे। क्यों भाभी?"

इन शब्दों में कितना प्यार भरा था, कैसा अपनत्व! मेरे शरीर में आनन्द की बिजली दौड़ गई। ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार के सकल सुख मेरे ही लिये हैं।

[१३ नवम्बर १९२१]

हाय शोक! क्या समझा था, क्या हो गया। इससे तो मर जाना ही अच्छा! परन्तु मुझे मौत भी नहीं आती, जो इस संकट से छुटकारा हो। जब देखो भाभी! जहाँ देखो भाभी, आख़िर सहन-शक्ति की भी तो कोई सीमा है। जी चाहता है, घर को आग लगाऊँ, और कहीं निकल जाऊँ। सुख न होगा, मगर छाती पर कोई मूँग भी तो न दलेगा। किसी पाठशाला में लड़कियाँ पढ़ा लूँगी, माँगकर खा लूँगी; पर यहाँ न रहूँगी। मैं भी कैसी मूर्खा हूँ, भाभी-भाभी कहते जीभ थकती थी, यह ख्याल भी न था कि अन्दर से मेरी सौत बनी बैठी है। उस दिन कैसे चाव और प्रेम और परिश्रम से भोजन बनाया। दो घंटे बाट जोहती रही। खाने बैठे तो पूछा, कैसा पका है। मेरी प्रशंसा तो क्या करनी थी, भाभी की महिमा गाने लगे। बोले—"खाना तो भाभी बनाती है। उसके हाथ का भोजन ऐसा स्वादिष्ट और मीठा होता है कि बस!" मुझे ज़हर चढ़ गया! जी चाहता था सिर दीवार के साथ दे मारूँ। प्रशंसा के दो शब्द कह देते, तो उनका क्या बिगड़ जाता; मेरा साहस बढ़ जाता। मैं भी समझती, मुझे कोई प्यार करने वाला है। मगर नहीं, मुझे जलाते हैं।

मुझे जलाने में उन्हें मज़ा मिलता है। कभी भाभी की किसी चीज़ में भी ऐब निकाल दें, फिर देखें कैसा आड़े हाथों लेती है; बोलने न दे, मुँह बन्द कर दे। एक मैं हूँ कि जो कुछ कहते हैं, सिर झुकाकर सुन लेती हूँ। तभी तो शेर हो जाते हैं।

परसों भाभी ने कहा—"प्रकाश! प्रेम के लिए फ़राक सी दे।" पहले तो दिल में ख्याल आया, कह दूँ—'मुझे फ़ुरसत नहीं, आप सी लो'। फिर सोचा—चलो सी दो, बेकार बैठे रहने से मेरे हाथ बढ़ तो न जायेंगे। दो-तीन घण्टे मशीन चलाती रही। जब तैयार हुआ, तो हुज्जतें करने लगीं। यह काट ग़लत है, यह सिलाई मोटी है, लेस ठीक नहीं लगी। और यह फल था मेरे तीन घण्टे के परिश्रम का! कोई पूछे, क्या सिलाई देकर सिलाया था, जो ऐसी बारीकियाँ देखने चली हैं। उनसे कहा, तो उन्होंने भी भाभी का पक्ष लिया, बोले—'ठीक कहती हैं। आप बहुत अच्छी सिलाई करती हैं। उनके हाथ का काम देखो तो दंग रह जाओ। कोई कारीगर दरज़ी भी ऐसा काम कर सकता है, मुझे इसमें संदेह है; इसीलिए उन्हें तुम्हारा फ़राक पसन्द नहीं आया।' अब कोई काम बताए, साफ़ कह दूँगी—'रानी! तुम्हारे हाथों में मेंहदी नहीं लगी है, आप करलो। काम भी करूँ, जली-कटी भी सुनूँ; ऐसी सहन-शीलता मुझ में नहीं।'

कल रात सिनेमा देखने गए। दो-तीन स्थान आए, जहाँ विषय साफ़ न था। मेरा दुर्भाग्य! उनसे पूछ बैठी। बस, उनको अवसर मिल गया। लगे भाभी की तारीफ़ें करने; 'भाभी कभी नहीं पूछती, सारी कहानी आप से आप समझ लेती है। कमाल की समझदार है। सिनेमा की बारीकियों को ऐसा समझती है कि तुम से क्या कहूँ!! वह तो किसी सिनेमा कम्पनी की डायरेक्टर बन सकती है। प्रकाश! शायद तुम इसे अत्युक्ति समझो, मगर यह अत्युक्ति नहीं है। भाभी बड़ी समझदार है।' यह सुनना था कि मेरी देह में आग लग गई; मगर क्या कर सकती थी जब तक बैठी रही रोती रही, परन्तु वे मज़े में बैठे तमाशा देखते रहे।

भाभी की आँख से एक आँसू गिर जाए तो सारी रात नींद न आए, दस बार उठकर देखें कि सो गई है, या नहीं। एक मैं हूँ कि रो-रो कर मर जाऊँ तब भी आशा नहीं कि उठकर दो मीठे शब्द ही कह दें। इन्हीं बातों ने तो मेरे जीवन की प्रसन्नता निगल ली है। शायद वह समझते हों कि मैं अंधेरे में हूँ, मगर यह उनका भ्रम है। मेरी आँखों ने सब कुछ भाँप लिया है। मुँह से न बोलूँ, यह और बात है; पर जानती सब कुछ हूँ।

हाय शोक! मेरा घर मेरी आँखों के सामने जल रहा है और मैं कुछ कर नहीं सकती। मनुष्य-जीवन की विवशता का ऐसा दृष्टान्त किसी ने कम देखा होगा।

[२४ नवम्बर १६२१]

मेरा सन्देह ठीक निकला।

अब मेरे लिए संसार में बाकी कुछ नहीं रह गया है; मैं पूर्ण रूप से तबाह हो गई। मैंने ग़रीब से ग़रीब और कंगाल से कंगाल स्त्रियाँ देखी हैं, मगर मुझसे वह भी अच्छी हैं। उनके पास आभूषण नहीं हैं, बहुमूल्य वस्त्र नहीं हैं, परन्तु उनके पास मन का सन्तोष और रात की नींद तो है। मेरे पास वह भी नहीं। वह पेट भरने के लिए दिन-रात परिश्रम करती हैं। इसपर भी कभी-कभी उन्हें भूखों रहना पड़ता है। कई ऐसी भी हैं, जिनके पति शराब पीते हैं, कई जुआ खेलते हैं। परन्तु उनको इतना सन्तोष है कि पति उनका है, इसपर किसी दूसरी स्त्री का अधिकार नहीं, यह किसी स्त्री की ख़ातिर उनसे लड़ने को तैयार न होगा। मेरा जीवन इस आनन्द से भी शून्य है। मेरा दिल इस धन से भी वंचित है। मेरे पास सब कुछ है, मगर मेरे पास कुछ भी नहीं है।

वे अब भी बात-बात में भाभी का बखान करते हैं। साफ़ मालूम होता है कि भाभी उनके मन में बस गई है। उसके सिवा वहाँ किसी अन्य के लिए स्थान नहीं है। मैं उनके मन में इस प्रकार रहती हूँ जैसे किसी के यहाँ चार दिन के लिए कोई मेहमान आ जाए। मकान-मालिक

उसे अपने यहाँ ठहरा लेता है। वह उसका आदर-सत्कार भी करता है। उससे हँसता-बोलता भी है। मगर दिल में सदा कुढ़ता रहता है कि अब यह चला क्यों नहीं जाता। कब तक पड़ा रहेगा? मुँह से कहे या न कहे, आँखें साफ़ कह देती हैं कि यह खुश नहीं है। मैं भी इसी तरह की मेहमान हूँ। खाना-कपड़ा सभी देते हैं, सम्मान से कोई भी नहीं देखता। सोचा था, मायके चली जाऊँ। न आँखों से देखूँगी, न दिल में जलन होगी। घर वाले पहले ही बुला रहे हैं; लेकिन एक सहेली ने राय दी, यह मूर्खता न कर बैठना, नहीं बाद में रोएगी। बात ठीक है, मैंने जाने का विचार छोड़ दिया।

अब भाभी भी समझ गई है कि मुझे सब कुछ मालूम है। वह पहले का-सा मेल-मिलाप अब नहीं रहा। मुझसे खिंची-खिंची रहती है, जैसे मैंने उसको कोई हानि पहुँचाई हो। मेरी तरफ जब देखती है, अग्निपूर्ण आँखों से देखती है। माँ जी भी अप्रसन्न रहती हैं। मालूम होता है, भाभी ने उनके भी कान भर दिए हैं। शायद अगर मैं एक बार भी जाकर अपनी दशा को बयान करूँ, तो उनका व्यवहार बदल जाए। पर क्यों? वह मुझसे क्यों न पूछें कि तुझे क्या कष्ट है? मैं दिखा दूँगी कि मुझे भी तुम लोगों की परवाह नहीं। तुम मुझसे एक गज़ दूर भागो, मैं तुमसे चार गज़ दूर भागूँगी।

वे चार-पाँच दिन से बीमार पड़े हैं। डाक्टर रोज़ आता है मगर आराम नहीं हुआ। परमात्मा उन्हें जल्द स्वस्थ करे, मेरा संसार उन्हीं से है। चारपाई पर पड़े देखती हूँ तो कलेजा काँप जाता है। ऐसा मालूम होता है जैसे बरसों से बीमार हैं। माँजी और सुसरजी दोनों दिन में एक दो बार आकर देख जाते हैं, मगर भाभी नहीं आती। कैसी पाषाण-हृदया है! एक ही मकान में रहते हैं, फिर भी बेपरवाई!

मगर कोई परवा नहीं।

[२७ नवम्बर १९२१]

कल बुखार और भी तेज़ हो गया। सारा दिन बेसुध पड़े रहे। एक

बार भी आँख न खोली। मैं पास बैठी रोती रही। माँजी भी सारे दिन उसी कमरे में बैठी रहीं और मुझे तसल्ली देती रहीं परन्तु मेरे दिल में न जाने क्या हो रहा था, जैसे कोई जानवर मेरे कलेजे को पंजों से खुरच रहा था। मेरा दिल जैसे अथाह अन्धकार में डूबा जा रहा था। जैसे दुनिया में मेरे लिए सिवा निराशा के और कुछ बाकी न रह गया था। उनके चेहरे की ओर ताकते हुए मुझे डर लगता था। बार-बार सोचती थी, क्या होने वाला है! कभी-कभी ऐसी भयानक, ऐसी काली कल्पना आकर सामने खड़ी हो जाती थी कि आँखों तले अन्धेरा छा जाता था और दर-दीवार घूमते नज़र आते थे। माँजी ने मुझे चिन्ता में देखा तो उनका क्रोध उतर गया। देर तक मुझे गोद में लिए बैठी रही और प्यार करती रहीं! मानो मैं छोटी-सी लड़की थी, जो माँ की गोद में बैठी उसकी मुहब्बत से खेल रही हो। यह मुहब्बत कितनी पवित्र थी। दिल की कितनी गहराइयों से निकलती थी—यह लिखना आसान नहीं। इसे कोई चित्रकार भी बयान नहीं कर सकता। इसे केवल अनुभव किया जा सकता है। ऐसी सास को नाराज़ किए रहना मूर्खता नहीं तो और क्या था? कदाचित् पहले होश आ जाता तो इतने दिन न जलती, न जलाती; मगर भाभी ने कमरे में पाँव भी न रखा, हाँ लड़के को एक दो बार भेजा कि देख आ क्या हाल है? ऐसी निर्दयता भी किस काम की! वे उसे कितना चाहते हैं, इन बीवीजी को परवा ही नहीं। शायद डरती हो कि कमरे में चली गई तो कहीं मैं भी बीमार न हो जाऊँ। जैसे आप कभी बीमार न होंगी।

जब सन्ध्या समय हुआ तो उसे बीमार देवर का ध्यान आया। लड़के को गोद में लिए हुए आकर उनके पलंग के पास खड़ी हो गई और बोली—"क्यों प्रकाश! माँजी कहती हैं, आज सारा दिन होश नहीं आया। अब क्या हाल है? बुखार हल्का हुआ या नहीं?"

मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे आग का शोला पेट से उठकर मुँह

की ओर आ रहा है। मगर उसे दबाकर उत्तर दिया—"अभी तो नहीं हुआ, हो जाएगा!"

भाभी ने उनके मुँह की तरफ़ देखा और घबरा गई। बोली—"इतना कमज़ोर हो गया है। मुझे यह ख्याल न था।"

मैं—(रुखाई से) "बीमार होकर कमज़ोर न होंगे तो क्या मोटे हो जायेंगे? बुख़ार उतर जाए, यही बड़ी बात है। बैठ जाओ। खड़ी कब तक रहोगी?"

भाभी की आँखों में आँसू आ गए। उसने लड़के को कुरसी पर बैठा दिया और आप पलंग पर झुककर उनके चेहरे की तरफ़ देखने लगी। एकाएक उन्होंने करवट बदली और बेहोशी में कहा—"भाभी!"

भाभी ने उनके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"क्यों कन्हैया! मैं तेरे पास खड़ी हूँ। अब जी कैसा है?"

उन्होंने आँखें खोल दीं, भाभी की तरफ देखा और कराहकर बोले—"सिर फटा जाता है भाभी! बड़ी तकलीफ़ है।"

यह कहकर उन्होंने आँखें बन्द कर लीं।

भाभी—"प्रकाश से कहूँ तेरा सिर दबा दे?"

वे—"तेरे हाथ नहीं हैं क्या, जो तू प्रकाश से कहेगी? वह ग़रीब तो रात-दिन मेरे पास बैठी रहती है। तुझसे इतना भी नहीं हो सकता तो जा, अपने कमरे में बैठ। माँजी कहाँ हैं?"

भाभी उनके पलंग पर बैठ गई और उनका सिर दबाने लगी। शायद कोई अत्युक्त समझे; मगर यह अत्युक्ति नहीं है। भाभी जितने ज़ोर से सिर दबाती थी, उससे दुगने ज़ोर से मेरा दिल दबा जाता था। सीने में आग-सी लगी हुई थी। जी चाहता था, आत्म-हत्या कर लूँ। हाय शोक! जिसके लिए हम दिन का आराम और रात की नींद निछावर कर दें, वह दूसरों के सामने हमारा इस तरह अपमान करे!

इतने में उन्होंने भाभी का हाथ अपने हाथ में ले लिया और बोले—"अब मेरा बुख़ार बहुत जल्दी उतर जाएगा भाभी! अगर तूने

मेरा बायकाट न किया होता तो अब तक कभी का बुख़ार उतर गया होता। चली थी हेकड़ी जताने। आख़िर झक मार कर हार माननी पड़ी या नहीं ?"

मेरी देह में और भी आग लग गई।

भाभी ने एक बार मेरी तरफ़ देखा और फिर उनके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"हाँ बाबा! सौ दफ़ा हारी। अब तुम यह बुख़ार छोड़ो।"

अब मुझसे सहन न हो सका। उठकर छत पर चली गई और रोने लगी। मगर मेरे आँसू देखने वाला कौन था ?

[५ दिसम्बर १६२१]

मेरे आँसू देखने वाला मेरा परमात्मा था। उसने मेरी विवशता और एकान्त को देखा, मेरे चहुँ ओर छाये हुए अन्धकार को देखा और मेरे जीवन की काली रात में आशा, प्रेम और उल्लास का प्रभात भेजकर मुझे बचा लिया।

२८ नवम्बर की रात थी, मैं मरने की तैयारियाँ कर रही थी। मरने के लिए या विष की आवश्यकता है, या रेल-गाड़ी की पटरी पर सिर रखने की, या पिस्तौल की, या फांसी की रस्सी की। मेरे पास कुछ भी न था। मेरे सामने केवल एक ही मार्ग था, छत पर से कूद पड़ूं और रोज़ की मुसीबतों को सदा के लिए ख़त्म कर दूँ। मैं छत के किनारे खड़ी थी। ज़रा आगे बढ़ती, तो मौत की गोद में पहुँच जाती, पीछे हट आती, तो ज़िन्दा बच रहती। जीवन और मृत्यु को इतना पास-पास मैंने कभी नहीं देखा था। केवल एक पग का अन्तर था। आगे मृत्यु थी, पीछे जीवन। मगर मेरे लिए मृत्यु में जीवन की आशा और माधुरी थी, जीवन में मृत्यु की निशा और निराशा। मैंने दिल कड़ा करके नीचे की तरफ़ देखा, वहाँ मृत्यु का सन्नाटा और अँधेरा था। मेरा दिल काँप गया। मृत्यु की जो प्रकाश-पूर्ण मूर्ति मैंने दिल में अंकित की थी, वह इस अथाह अन्धकार में न जाने कहाँ छिप गई! मेरे पाँव रुक गए। कभी-कभी

मृत्यु भी दुनिया की प्रायः दूसरी चीज़ों के समान दूर से सुन्दर दिखाई देती है, मगर जब हम निकट पहुँचते हैं तो उसका सौन्दर्य ग़ायब हो जाता है।

मैं उसी स्थान पर जीवन और मृत्यु के बीच बैठ गई और अपनी स्थिति पर विचार करने लगी। अब क्या करूँ, किधर जाऊँ? आशा के जीवन और जीवन की आशा को कहाँ ढूँढूँ? मेरे लिए इस विशाल संसार में कहीं भी स्थान न था। सहसा मृत्यु ने फिर अपनी भुजाएँ फैलाईं और मुस्कराई। मैं फिर मरने को तैयार हो गई। जो हताश हो, उसके लिये और उपाय ही क्या है?

एकाएक ख्याल आया, पहले चलकर भाभी से दो-दो बातें तो करलूँ। ऐसी खरी-खरी सुनाऊँ कि तलमला उठे। क्या याद करेगी कि किसी ने सुनाई थीं। सारी प्रेम-लीला भूल जायगी। इतना-सा मुँह निकल आएगा।

मैं नीचे उतर आई और भाभी के कमरे की तरफ चली। इस समय अगर वह सामने आ जाती तो मेरी अग्निपूर्ण दृष्टि उसे जलाकर भस्म कर देती। मगर...

मैंने देखा, वह धीरे-धीरे दरवाज़े की तरफ बढ़ी और बाहर चली गई। मेरा कलेजा सन-से हो गया। मालूम हुआ कोई भयानक रहस्य खुलने वाला है। मैं भी उसके पीछे-पीछे चली। देखूँ, कहाँ जाती है, किस के पास, किस उद्देश्य से। ज़रूर कोई विशेष बात है, कोई गुप्त उद्देश्य, कोई पापमय विचार, जिसके लिए यह समय उचित समझा गया है। मैं इन्हीं विचारों में लीन चली जाती थी कि वह हमारे मकान के पास ही जो मन्दिर है, उसके अन्दर चली गई और देवी की मूर्ति के सम्मुख हाथ बांधकर खड़ी हो गई। मैं बाहर छिपी हुई उसकी प्रार्थना का एक-एक शब्द सुन रही थी। उसने रोती हुई आँखों और काँपती हुई ज़बान से कहा—"देवी माता, मेरे पुत्र को स्वस्थ कर। वह मेरा देवर

है, मगर मैंने उसे सदा पुत्र-तुल्य ही समझा है। उसकी अज्ञान स्त्री का ख्याल कर। उसकी बाली उमर है, उसकी आँखों की उदासी और हृदय की अशान्ति देख और उसका सुहाग बनाए रख। मैंने उसे बचपन से खिलाया है, मेरे हाल पर दया कर। मैं मर जाऊँ; मगर वह बच जाए, यही मेरी प्रार्थना है।"

मेरी आँखें खुल गईं। अब सत्य मेरे सामने खड़ा था, कैसा आनन्दमय, कितना शान्तिदायक! भाभी अन्दर देवी के सामने औंधे मुँह गिरकर रो रही थी, मैं बाहर अन्धेरे में घुटनों के बल खड़ी शोक, लज्जा, क्षोभ और आनन्द के मिले-जुले आँसू बहा रही थी। जो आत्मिक उल्लास इन आँसुओं में था, वह बड़ी से बड़ी खुशी में भी नहीं।

दूसरे दिन मैं और भाभी उनके पास बैठी हँस-हँसकर बातें कर रही थीं। आज वह मुझे स्त्री न मालूम होती थी, देवी मालूम होती थी, जो दुनिया को पवित्र प्रेम-मार्ग दिखाने के लिये स्वर्ग से उतर आई हो। अब मैंने उसका मन पढ़ लिया था, उसका आत्मा देख लिया था। अब वह सन्देह नाम को भी न रहा था। उन्होंने भाभी की तरफ़ देखा और कहा—

"आज तुम फिर यहाँ आ गईं, क्या तुम्हें प्रकाश का भय नहीं है?"

भाभी—"भय तो है, मगर तेरा प्यार नहीं मानता।"

वे—"क्या मज़े से मेरी चारपाई पर बैठी हुई है, कोई देख ले तो क्या कहे, क्यों प्रकाश!"

मैं—"कहना क्या है, जो माँ-बेटे की आँखें भी न पहचाने उसका अपना दोष है।"

वे—"इस कमरे से निकाल दूँ तो कैसा रहे?"

मैं—"मगर यह तो मेरे दिल में बैठ गईं। इन्हें वहाँ से कौन निकालेगा?"

उन्होंने मेरी तरफ़ मदभरी दृष्टि से देखा और बोले—"अरे! दिल में इसे बैठा लिया तो मुझे कहाँ बैठाओगी? बोलो?"

मैं—"तुम्हारे लिए इस देवी का दिल कम नहीं है। जो आदर और आराम तुम्हें यहाँ मिल सकता है, और कहीं न मिलेगा।"

भाभी ने मेरी तरफ माँ की स्नेहमयी दृष्टि से देखा और मुस्कराकर उनके सिर पर हाथ फेरने लगीं।

अन्धकार

लाला रामनारायण अमृतसर के प्रसिद्ध व्यापारी थे, मिट्टी को भी हाथ लगाते तो सोना हो जाता। उन पर लक्ष्मी की विशेष कृपा थी— उनकी दो दुकानें थीं; एक कपड़े की, दूसरी अंग्रेज़ी दवाइयों की। उन्हें दोनों से मुनाफ़ा होता था। किसी वस्तु का टोटा न था। भगवान् ने सब कुछ दिया था, मग़र कुछ भी न था। उनके लड़कियाँ कई थीं, लड़का एक भी न था। यह पुत्र-अभाव उन्हें खाए जाता था, हर समय उदास रहते थे। बाहर जाकर तो कदाचित् हँस-बोल भी लेते, पर घर में आते ही उनकी आँखें अग्निमय हो जाती थीं। पार्वती समझती थी, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। अब लड़के-लड़कियाँ पैदा करना किसी के अपने बस की बात थोड़े ही है? परन्तु इस पर भी उसमें इतना साहस न था कि पति के सामने मुस्कराते हुए खड़ी हो जाय। वह घर में आते तो थर-थर काँपती रहती कि कहीं गरज न उठें। सोचती, मेरे ही भाग्य में आग लगी है; इसमें किसी का दोष नहीं। लोगों के यहाँ कई-कई लड़के पैदा होते हैं, पत्थरों के लिए मैं ही रह गई हूँ। सास कहती, मेरे मोती जैसे बेटे को अभागिन मिल गई। चेहरा कैसा दमकता था, जैसे अनार का लाल दाना हो। पर अब वह बात ही नहीं। न होठों पर वह मुस्कान है, न आँखों में वह ज्योति। देह पहले से आधी भी नहीं रही। अन्दर ही अन्दर घुला जाता है। रामनारायण यह बातें सुनते तो और भी दुखी हो जाते। कहते, "माँ! तुम ऐसी बातें न किया करो। जो वस्तु

भाग्य में न लिखी हो, उसके लिए रोना निष्फल है। मैंने समझ लिया है, हमारे वंश का नाम-निशान मिट के रहेगा, हमारे भाग्य में पुत्र-सुख नहीं लिखा। तुम कुढ़ती हो, मुझे रोना आता है।" पार्वती यह बातें सुनती, तो उसके दिल में तीर से चुभ जाते। पहरों रोती और प्रारब्ध को गालियाँ देती रहती। वह भागवान घर में आई थी, पर अभागिन बनकर, जैसे खीर के थाल में लाल मिर्च पड़ जाय। उसे और सारे सुख थे, एक यही न था। उसने इलाज किया, साधु-सन्तों से भस्म की चुटकी ली, व्रत रखे, मगर भाग्यरेखा न बदली। यहाँ तक कि कई वर्ष बीत गए, परन्तु पार्वती का आशा-अंक पुत्र-मणि से न भरा। लड़कियाँ चार थीं, लड़का एक भी न था।

(२)

एक दिन गली में एक ज्योतिषी आया। बच्चों के लिए रीछ और स्त्रियों के लिए ज्योतिषी दोनों समान हैं। स्त्रियों को तमाशा हाथ लग गया। बढ़-बढ़कर हाथ दिखाने लगीं! ज्योतिषी बातें बनाता था, पैसे बटोरता था। कैसा अच्छा व्यापार है! किसी का माल नहीं बिकता, किसी की बातें बिकती हैं। स्त्रियाँ पैसे देती थीं और हँसती थीं। मगर पार्वती घर बैठी अपने दुर्भाग्य को रो रही थी।

इतने में उसकी सास ने कहा—"पार्वती! ज़रा इधर आकर तू भी पंडित जी को हाथ दिखा ले।"

पार्वती ने नैराश्य-भाव से उत्तर दिया—"हाथ दिखाने से क्या होगा?"

"मगर हर्ज ही क्या है? दिखा ले।"

पार्वती का जी न चाहता था कि हाथ दिखाए, परन्तु सास के भय से उसने उठकर हाथ ज्योतिषी के सामने कर दिया। सब स्त्रियाँ चुप-चाप खड़ी हो गईं। यह हस्त-निरीक्षण न था, भाग्य-निरीक्षण था। ज्योतिषी ने हाथ की रेखाओं को देखा और धीरे से कहा—"तुम्हारे मन में हमेशा क्लेश रहता है।"

पार्वती की सास ने सिर हिलाकर कहा—"ठीक है पंडितजी।"

ज्योतिषी—"पर यह क्लेश मन का है, शरीर का नहीं।"

सास—"यह भी सच है।"

ज्योतिषी—"इसके कन्याएं होती हैं, लड़का नहीं होता।"

स्त्रियों ने कहा—"देखा! यह विद्या की बातें हैं। जो चार अच्छर पढ़ जाते हैं, वह कहते हैं, जोतस सासतर सब झूठ है। अब कहो, सच बताया या नहीं?"

ज्योतिषी—"इसका पति भीं बहुत दुखी रहता है।"

सास—"महाराज यह भी सच है।"

ज्योतिषी—"इसके और नच्छत्तर तो सब अच्छे हैं। केवल एक नच्छत्तर अशुभ है। यह सब उसी का फल है।"

सास—"महाराज तो अन्तरजामी हैं। अब यह देखें इसके भाग में बेटा है या नहीं।"

ज्योतिषी ने अच्छी तरह देखकर उंगलियों पर हिसाब किया और इसके बाद शोक से सिर हिलाकर कहा—"नहीं।"

उत्तर साधारण था, पर पार्वती का दिल बदल गया। उसकी देह से पसीना छूटने लगा, जैसे उसके जीवन से जीवन की सकल आशाएं और उमंगें प्रस्थान कर गई हों। उसने हतभागों की तरह भूमि की ओर देखा और रुक-रुककर पूछा—"इसका कुछ उपाय भी है, या नहीं?"

ज्योतिषी—"उपाय तो है, परन्तु करना बड़ा कठिन है।"

पार्वती—"मैं सब कुछ कर लूँगी।"

ज्योतिषी—"रात को श्मशान में बैठकर जाप करना होगा। कर सकोगी?"

पार्वती का चेहरा फीका पड़ गया। आशा सामने आई थी, ओझल हो गई। पार्वती फिर उदास हो गई, जैसे कोई बाज़ी जीतते रह जाए।

ज्योतिषी—"तुम उदास न हो। तुम्हारी ख़ातिर यह काम मैं कर दूँगा। भय बहुत है, सिद्धि के समय भूत सामने आकर खड़े हो जाते हैं। अजान आदमी सहमकर मर जाए। परन्तु भूत हमारा क्या बिगाड़ लेंगे, चाहें तो पलभर में भस्म करदें। हमारे शब्दों में आग है। एक मन्त्र पढ़ें तो चिल्लाकर भाग निकलें।"

पार्वती की आँखें आशापूर्ण हो गईं, जैसे देवी का वरदान मिल गया हो। सास का चेहरा आशा की आभा से लाल था। उसे विश्वास हो गया कि अब ज़रूर लड़का होगा। करामाती पंडित रेख में मेख मार सकता है। ज्योतिषी जी की ख़ातिर होने लगी। उसने जो कुछ माँगा, वही दिया। पार्वती और उसकी सास न नहीं करती थीं। कभी काले बकरे के लिए रुपया माँगता, कभी सोने-चाँदी के लिए। उसे आज तक न ऐसा अमीर घर मिला था न ऐसे अन्धे श्रद्धालु। दोनों हाथों से लूटता था! और वह लुटवाते थे। हर मंगलवार को ग़रीबों को रोटियाँ बाँटी जाती थीं। ज्योतिषी जी ने पार्वती को एक मन्त्र सिखा दिया था। वह नहाकर पन्द्रह मिनट जाप करती थी। खाना भूल सकता था, मगर इस मन्त्र का जाप न भूल सकता था। अब इस मन्त्र ही पर जीवन की सारी अभिलाषाएं अवलम्बित थीं। सदा शंका लगी रहती—कहीं यह कच्चा तागा टूट न जाए। वह इसे प्राणपण से बचाकर रखती थी, यहाँ तक कि मन्त्र की परीक्षा का दिन समीप आ गया। अब कुछ दिन बाक़ी थे।

(३)

पार्वती की रात-दिन ख़ातिरदारियाँ होने लगीं। घर के लोग उसे कोई काम न करने देते थे; कहते आराम से बैठी रहो, सब कुछ हो जायगा। लाला रामनारायण ने कभी उससे सीधे मुँह बात न की थी। अब हँस-हँसकर बोलने लगे, जैसे उससे मन-मुटाव था ही नहीं। मुँह हर समय खिला रहता। पार्वती को कभी ताँगे की सैर कराने ले जाते, कभी थियेटर दिखाने। कहते, जो जी में आए माँग लिया करो, मन

मारकर रह जाना स्वास्थ्य को ख़राब कर देता है। पार्वती को यह नौ महीने गुज़रते मालूम न हुए। संसार के सारे सुख, सारे आराम पर्याप्त थे। जो कहती, वही हो जाता। किसी को दम मारने की मजाल न थी। पहले दासी थी अब रानी बनी। सास जो दिन-रात हृदय-वेधी ताने मारती थी, अब ऊँची आवाज़ से बोलते हुए भी डरती थी। कहीं पार्वती क्रोध न कर बैठे, कहीं उसका जी न ख़राब हो जाए। पार्वती की ऐसी ख़ातिर, ऐसी खुशामद कभी न हुई थी।

एक दिन रामनारायण बोले—"ज्योतिषी कहता है, सौ रुपये से एक भी पैसा कम न लूँगा।"

पार्वती—"वह समय तो आ ले, देखा जाएगा।"

रामनारायण—"मेरा दिल कहता है, अब के लड़का ही होगा।"

पार्वती—"लच्छन तो मुझे भी अच्छे मालूम होते हैं। दिल में ऐसे-ऐसे विचार आते हैं कि तुमसे क्या कहूँ ?"

रामनारायण—"बस ठीक है। लड़का ही होगा।"

पार्वती—"जी चाहता है, फल और मिठाइयाँ ही खाती रहूँ। रोटी की तरफ़ देखने से भी घृणा होती है।"

रामनारायण—"खटाई पर तो दिल नहीं दौड़ता ?"

पार्वती—"कभी ख्याल भी नहीं आता।"

रामनारायण—"जी कैसा रहता है ?"

पार्वती—"बहुत प्रसन्न। पहले सदा उदासी छाई रहती थी। अब सुस्ती नाम को नहीं। जी चाहता है, सारा दिन सैर किया करूँ। ऐसी दशा मेरी आज तक कभी न हुई थी।"

रामनारायण—"मेरा दिल भी यही कहता है कि अब की ज़रूर लड़का ही होगा।"

पार्वती—(हँसकर) "अगर लड़का हुआ तो मुझे क्या दोगे ?"

रामनारायण—"जो माँगोगी, वही दूँगा। तुमसे बाहर थोड़ा हूँ।"

पार्वती—"हीरे का हार मँगवा दोगे ?"

रामनारायण—"अरे! हीरे का हार?"

पार्वती—"बस, बस! इतना ही देखना था देख लिया।"

रामनारायण—"तुम तो वकीलों की तरह जिरह करती हो।"

पार्वती—"चलो रहने दो। मैं तुम्हारा दिल देखती थी। मुझे हार की क्या पड़ी है? तुम्हारी खुशी मिल जाए, यही सब कुछ है।"

रामनारायण—"मैं तुमसे कभी नाराज़ नहीं हुआ।"

पार्वती—"क्यों झूठ बोलते हो? तुम्हारी तो आँखें ही बदल गई थीं। मैं अनपढ़ हूँ, पर अन्धी नहीं हूँ। आँखें पहचानती हूँ।"

रामनारायण—"तुम्हें धोखा हुआ होगा।"

पार्वती—"खैर! यह भी देखा जायगा।"

इसी तरह नौ महीने बीत गए। प्रसव-काल आ पहुँचा। रामनारायण बाहर बैठे घबराते थे, उनकी माँ अन्दर घबराती थी। ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जाता था, उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती थी। देखें क्या हो, क्या न हो? चेहरे का रंग क्षण-क्षण में बदल रहा था। कभी आशा, कभी निराशा, कभी व्याकुलता। उनकी सकल इच्छाएँ, समस्त उल्लास, सारे उद्गार आँखों में आ बैठे थे। उनके जीवन का आधार अब केवल एक शब्द पर था। यह खेती एक छींटे की प्यासी थी। यह लता एक झोंके की भूखी थी।

सहसा अन्दर से नवजात बालक के रोने की आवाज़ आई। रामनरायण चौंककर खड़े हो गये और सवेग अन्दर को चले। वे अभी आँगन ही में पहुँचे थे कि मां बाहर निकल आई। इस समय उसकी आँखों में आंसू थे, मुँह पर क्रोध, जैसे अग्नि की ज्वाला में पानी की बूँदें जल रही हों। रामनारायण के पाँव वहीं रुक गए। अब उनमें आगे बढ़ने की शक्ति न थी। यह लम्बा सफर, यह सुदूर यात्रा कितनी आशाओं को लेकर तय की थी। सब निराशा की भेंट हो गई। हृदय-क्षेत्र को पानी का छींटा न मिला। आशालता को वायु का झोंका प्राप्त न हुआ।

(४)

फिर लड़की ! रामनारायण का सिर चकराने लगा। निराशा जब चरम-सीमा पर पहुँच जाती है तो हमारी जीभ बन्द हो जाती है। रामनारायण भी चुप हो गए। बहुत देर के बाद बोले—"अब तो जी चाहता है, कहीं निकल जाऊँ; यहाँ मेरे दिल को शान्ति न मिलेगी।"

"माँ—धीरज धरो। घबराने से क्या होता है ?"

रामनरायण—"वह ज्योतिषी मिल जाए तो मुँह नोच लूँ। मुझे तो उस पर पहले ही विश्वास न था, मगर तुम्हारे ख्याल से चुप रहा। हज़ारों पर पानी फिर गया।"

माँ—"मुझे क्या पता था, सब धोखा ही धोखा है।"

रामनारायण—"कहता था, जाप करूँगा तो लड़का हो जायगा। सब वाहियात ढकोंसले हैं। ऐसे महात्मा होते तो माँगते क्यों फिरते ? घर बैठे पाँव पुजवाते।"

माँ—"बेटा ! जब अपने ही कर्मों में न हो तो कोई क्या करे ! आदमी तो बुरा न था। जो-जो बात थी, खोलकर कह दी। सारा मुहल्ला वाह-वाह करता था। एक यह बात झूठ निकली। बाकी सब सच निकला।"

रामनारायण—"हमारे भाग ही खोटे हैं। अब मुझे आज्ञा दो, साधु होकर कहीं निकल जाऊँ। घर में रहा तो पागल हो जाऊँगा।"

मा—"कैसी बातें मुँह से निकालते हो तुम ? भाग तुम्हारे क्यों खोटे होने लगे ? भाग उस अभागिनी के खोटे हैं, जिसे राज-सिंहासन पर बैठकर भी आराम न मिला। मेरी मानों तो अब दूसरा ब्याह कर लो, इससे लड़का न होगा। बहुत बरदाश्त किया, अब नहीं सहा जाता।"

रामनारायण—"मैं मर जाऊँगा, पर यह न करूंगा। मैं आदमी हूँ, राक्षस नहीं हूँ।"

माँ—"अरे ! मैं उसे घर से निकाल देने को थोड़ा कहती हूँ। यह भी पड़ी रहेगी। लोग दूसरा ब्याह लड़के के लिए करते हैं, शौक़

के लिए नहीं करते। अगर इससे लड़का हो जाता तो हमारा क्या सिर फिरा हुआ था।"

रामनारायण—"अब जो प्रारब्ध ही में न हो तो क्या किया जाए?"

माँ—"इसीलिए तो कहती हूँ, दूसरा ब्याह कर लो। परमेश्वर कृपा करेगा।"

यह बातचीत पार्वती ने सौर-गृह में लेटे-लेटे सुनी। वह पहले ही मर रही थी, यह बात-चीत सुनकर और भी मर गई। उसे विश्वास हो गया कि अब यह ब्याह कभी न रुकेगा। आने वाले दिन आँखों तले फिर गए। सोचने लगी, क्या होगा? अभी यह हाल है तो ब्याह के बाद क्या होगा? सभी दुतकारेंगे। सब नई बहू को पूछेंगे। मुझे कोई भी न पूछेगा। यह अनादर, यह अपमान, यह तिरस्कार कैसे सहूँगी? पार्वती ने अपने सिर पर ज़ोर से थप्पड़ मारा, और रोकर कहा—"परमात्मा! अब तो उठा लो। यह सहा नहीं जाता!"

हम रोते हैं इसलिए कि दूसरे हमें चुप कराएँ, इसलिए नहीं कि हमें और भी रुलाएँ। पार्वती इसी ख्याल से रोई थी। लेकिन उसकी सास ने जब यह शब्द सुना तो वे और भी लाल-पीली हो गईं और उच्च स्वर में सुनाकर बोलीं—"तेरे भाग में मौत नहीं, मौत तो हमारे भाग में है। बैठी राज करती है और छाती पर मूँग दलती है।"

यह शब्द नहीं थे, ज़हर में बुझे हुए तीर थे। पार्वती की आँखें अग्नि-मय हो गईं। उसकी सारी देह जलने लगी। रगों का रुधिर इस तरह खौलता था, जैसे कढ़ाई में तेल खौलता हो। सहसा रामनारायण अन्दर आ गए, और प्यार से बोले—"पार्वती! धीरज धरो। लड़के-लड़कियाँ दोनों बराबर हैं। माता जी जोश में आकर जो जी में आता है, कह देती हैं। मगर उनकी नीयत खोटी नहीं। भोली हैं, इतना नहीं समझतीं कि जिनके यहाँ बेटे नहीं होते, वह मर थोड़ा ही जाती हैं। तुम ऐसी बातों की चिन्ता न किया करो, नहीं बीमार हो जाओगी।"

पार्वती चौंक पड़ी। उसे आश्चर्य था कि यह मीठे शब्द रामनारायण के मुँह से कैसे निकले ? वह आज तक यही समझती थी कि यह बेटे का मुँह देखने को तरस रहे हैं। अभी-अभी माँ-बेटे में जो-जो बातें हो रही थीं, उनसे भी यही प्रकट होता था। एकाएक यह परिवर्तन क्यों ? पार्वती ने बहुत सोचा, मगर कोई बात उसकी समझ में न आई। उसे आश्चर्य हुआ। पर इस आश्चर्य से बढ़कर प्रसन्नता हुई। उसने कातर दृष्टि से अपने पति की तरफ़ देखा और आँखें बन्द करलीं। उसके सब पराए थे, केवल पति अपना था। मगर उसके लिए यही सब कुछ था।

(५)

परन्तु कुछ दिन के बाद पति भी अपना न रहा। रामनारायण ने दूसरा ब्याह कर लिया। पार्वती पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। उससे कोई सीधे मुँह बात भी न करता था; सब नई दुलहिन की सेवा में लगे रहते थे। अब नई दुलहिन घर की सब कुछ थी, पार्वती कुछ भी न थी। यहाँ तक कि उसका मान दासियों के बराबर भी न था। अब वह किसी काम में दख़ल न देती। चुपचाप अपनी कोठरी में पड़ी रहती। जो मिलता, खा लेती; जो हाथ आता पहन लेती। अब उसे किसी की कड़वी बात पर क्रोध न आता था, न जली-कटी बातें सुनकर आँखें सजल होती थीं। कभी ज़रा से कटु-भाषण पर उसके शरीर में आग लग जाती थी। उस समय वह घर की रानी थी। मगर अब उसका सिंहासन छिन चुका था। अब उसके पति ने उसे अपने मन-मन्दिर से निकाल दिया था। अब वह रानी नहीं थी, भिखारिन थी। भिखारिन को क्रोध करने का अधिकार किसने दिया है ? परमात्मा ने भी नहीं। भिखारिन कुछ दिन मुफ़्त की रोटियाँ फाड़ती रही, फिर काम करने लगी। पहले रानी से भिखारिन बनी थी, अब भिखारिन से दासी बनी।

उधर दयावती सारे घर पर शासन करती थी। वह हँसती, तो घर के लोग साथ हँसते। उदास होती, तो घर के लोग उदास हो जाते।

ज़रा तेज़ चलती, तो सास कहती, बेटी! सम्भल कर चलो, नहीं पाँव दुखने लगेंगे। ऊपर से नीचे उतरती तो कहती, कमर दर्द करने लगेगी। उसका ज़रा-सा सिर दुखता तो रामनारायण की जान पर बन जाती। भागे-भागे डाक्टर के पास जाते और दवाओं की शीशियाँ उठा लाते। ननदें दयावती पर प्राण देती थीं। क्या मजाल जो उसकी इच्छा के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से निकल जाये। परन्तु इतना कुछ होने पर भी दयावती खुश न थी। उसके दिल में हर समय बुरी-बुरी भावनायें उठा करतीं। एकान्त में बैठती तो फूट-फूटकर रोया करती। उसे हँसते-मुस्कराते देखकर किसी को सन्देह भी न हो सकता था कि उसके दिल में कोई प्राणघातक जलन, कोई दुःखदायक पीड़ा होगी। ऊपर ठंडा पानी लहरें मारता था, नीचे आग सुलगती थी।

रात का समय था। पार्वती ने बर्तन साफ़ किए, रसोईघर धोया और छोटी लड़की को लेकर अपनी कोठरी में चली गई। मगर उसके शरीर का एक-एक अंग दर्द कर रहा था। दूसरे दिन जागी तो सारा शरीर तप रहा था, और सिर उठाए न उठता था। पार्वती चुपचाप लेटी रही। उसमें हिलने की हिम्मत न थी, यहाँ तक कि नौ बज गए, और चूल्हा गरम न हुआ। लड़कियाँ रोटी माँगती थीं और रोती थीं। पार्वती उनकी तरफ़ देखती थी और कराहती थी। यह हृदय-विदारक दृश्य देखकर दयावती का दिल पसीज गया। वह दयावती थी, उसमें दया का अभाव न था। उसने मुँह से कुछ न कहा, परन्तु रसोईघर में जाकर रसोई बनाने लगी।

इतने में पार्वती की सास ने पार्वती की कोठरी के बाहर आकर कहा—"परमात्मा करे, ऐसी बहू किसी को न मिले। खाने को हर घड़ी तैयार है, काम का ध्यान ही नहीं। नई दुलहन बैठी काम करती है। यह रानी सेज़ पर लेटी है, कोई देखे, तो क्या कहे?"

पार्वती ने कराहकर उत्तर दिया—"क्या करूँ? बुख़ार हो रहा है।"

सास—"यह सब बहाने मैं खूब जानती हूँ। बुख़ार-उख़ार कुछ नहीं है। बहाना है, बहाना!"

पार्वती—"माँ जी! बहाना तो मैंने आज तक कभी नहीं किया।"

सास—"बड़ी सतवन्ती है न तू। बहाना क्यों करने लगी? कल सांझ तक बुख़ार न था। अब कैसे हो गया?"

पार्वती—"अब यह मैं क्या जानूं? रात को देह दर्द करती थी।"

सास—"देखना! कहीं निमोनिया न हो जाय।"

पार्वती—"हो जाए तो क्या कहना! मगर निमोनिया भाग्यवानों को होता है। अभागों को वह भी नहीं होता।"

सास—"भाग्यवान तो मैं ही हूँ, अब मुझे मार। मुरदार गालियाँ देती है।"

पार्वती—"आप तो लड़ती हैं। मैंने यह कब कहा है?"

सास—"मेरा सिर फिरा हुआ है न?"

पार्वती—"शायद फिरा ही हो।"

आग पर तेल पड़ गया। सास ने गरजकर कहा—"अगर फिरा हुआ न होता तो तेरे जैसी कमजात लड़की को कैसे ब्याह लाती? परनाले का पत्थर चौबारे में लग गया।"

पार्वती कमजात का शब्द सुनकर क्रोध न रोक सकी। बोली—"जाओ! भीतर जाकर बको, मैं तो यों ही मर रही हूँ। इलाज का ध्यान नहीं, लड़ने की धुन सवार हो गई। परमात्मा ऐसी सास दुश्मन को भी न दे।"

अब सहन करना सम्भव न था। पार्वती की सास रोने लगी और इतने ज़ोर से रोई कि सारा मुहल्ला जमा हो गया। चीख़-चीख़कर कहती थी—'बहनो! इस निर्लज्ज बहु ने मेरी पत उतार दी। मेरा ज़रा-सा लिहाज नहीं किया। रात को कहीं बुखार हो गया था। मैंने आकर पूछा, हकीम को बुला लूँ। बस इतनी सी बात पर गालियाँ देने लगी। बोली, तुम्हें मेरे बुखार की क्या परवाह है? तुम्हें उस समय मालूम होगा,

जब तुम्हारे बेटे को और उसकी बेगम को बुख़ार चढ़ेगा। तब पूछूँगी, क्यों माँ! अब हकीम को बुलवाऊँ। मैंने कहा—मुझे गालियाँ दे लो, पर उस गऊ ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? इस पर नाम ले लेकर रोने लगी, और मुझे कोसने लगी। वह गरीब न लेने में न देने में। अब तुम ही कहो, मैंने क्या बुरा किया?"

मुहल्ले की सब स्त्रियाँ चुप थीं। वह जानती थीं, पार्वती ऐसी स्त्री नहीं। परन्तु उन्होंने मुँह से कुछ नहीं कहा। हम दुखिया के पक्ष में होते हुए भी उसकी सहायता नहीं करते। उलटा बाज़ वक्त उसके विरुद्ध बोल देते हैं। यही दशा स्त्रियों की थी। उनके दिल कहते थे, पार्वती निर्दोष है। सारा महाभारत बुढ़िया का मचाया हुआ है, मगर फिर भी उनमें सच बोलने का साहस न था। हम अपने लिए झूठ बोल सकते हैं, पर दूसरों के लिए सच भी नहीं बोल सकते।

सारा दिन बीत गया, पार्वती को कोई दवा न मिली। न उसके पास जाकर किसी ने देखा कि ग़रीब जीती है, या मरती है। रामनारायण खाना खाने आये और दुकान को चले गये। सास धूप में लेटी रही। ननदें क्रोशिया लिये रूमाल बुनती रहीं। केवल पार्वती की अबोध लड़कियाँ थीं जो कभी उसके पास जा बैठती थीं, कभी बाहर निकल आती थीं। इनके अतिरिक्त एक और प्राणी भी था जो उसका सुख-दुःख अनुभव करता था। और वह दयावती थी।

(६)

हाँ, वह दयावती थी—पार्वती की सौत। वह पार्वती के लिये तड़पती थी, पार्वती के लिये रोती थी, मगर कुछ कर न सकती थी। वह इस घर में नई थी। उसे कोई कुछ कहता न था, वह स्वयं लज्जा से चुप रहती थी। उसे भय न मारता था, संकोच मारता था। हमारा दिल हमारा सब से बड़ा दुश्मन है।

रात के दो बजे का समय था। पार्वती अपनी कोठरी में बेसुध पड़ी थी। एक ओर एक धुँधला-सा दिया टिमटिमा रहा था, मगर उसका

तेल समाप्त हो चुका था; और उसका प्रकाश धीरे-धीरे मर रहा था। यह मिट्टी का दिया न था, पार्वती के भाग्य का दिया था। कैसा तुच्छ, कितना छोटा! इसका प्रकाश अन्धकार में किस तरह विलीन हो रहा था? इसका जीवन मृत्यु के मुँह में किस तरह भागता हुआ जा रहा था?

इतने में दरवाज़ा खुला और दयावती धीरे-धीरे अन्दर आई। उसने पार्वती के चेहरे को देखा और ठण्डी आह भरकर उसके सिरहाने बैठ गई। इसके बाद उसने पार्वती का सिर अपनी जंघा पर रख लिया और उसके बालों में प्यार से उँगलियाँ फेरने लगी।

पार्वती ने घबराकर आँखें खोल दीं और कहा—"कौन?" उसको आशा थी, यह रामनारायण होंगे। दिन में माँ के ख्याल से नहीं आये, अब आये हैं। अपना फिर भी अपना है, पराया कैसे हो जायगा? मगर मुँह मोड़कर देखा तो सन्नाटे में आ गई। यह रामनारायण न थे, दयावती थी। पार्वती की आँखों में पानी आ गया। उसने एक क्षण तक दयावती के मुँह की तरफ ताका और फिर उसके गले से लिपट गई। उसने जिन्हें अपना समझा था, वह पराये निकले। मगर जो पराया था, वह अपना बन गया। दुनिया के रास्ते कैसे निराले, कितने अद्भुत हैं!

दयावती ने पार्वती को चारपाई पर लिटाकर पूछा—"कोई दवा नहीं खाई?"

पार्वती—"नहीं, मेरी परवा किसे है, जो दवा खाऊँ।"

दयावती—"तो बुखार कैसे उतरेगा?"

पार्वती—"भगवान् उतार देगा।"

दयावती—"नहीं। तुम्हें दवा खानी होगी। इस घर के आदमी सभी राक्षस हैं। बहन! तुम्हें विश्वास न होगा, मैं तुम्हारे लिए सारा दिन कुढ़ती रही हूँ। तुम्हारे साथ सख्ती होती है, तो मेरा दिल रोने लगता है। जी चाहता है, तुम्हारे गले से लिपट जाऊँ। पर घर वालों का ख्याल रास्ते में खड़ा हो जाता है। सोचती हूँ, क्या कहेंगे। सौ-सौ बातें बनाएँगे। मगर अब यह बेपरवाई न होगी।"

पार्वती ने धुँधले दिये की तरफ देखते हुए कहा—"बहन! अब तो जी चाहता है कुछ खाकर सो रहूँ। सब कुछ देख लिया, और क्या देखूँगी? अब यह अधोगति नहीं सही जाती। अब तो मौत ही आ जाए।"

दयावती—"अधीर क्यों होती हो? यह दिन भी गुज़र जाएँगे।"

पार्वती—"प्रारब्ध में यह लिखा है, यह मालूम न था। मालूम होता तो जोगिन बन जाती।"

दयावती—"जोगिन बनना इतना आसान होता तो आज संसार में चारों तरफ जोगिनें ही जोगिनें नज़र आतीं।"

पार्वती—"आज का हाल तो तुमने स्वयं देख लिया होगा। बताओ, मेरा क्या दोष है?"

दयावती—"खूब देख लिया, ज़्यादती सारी उनकी है। तुम्हारा दोष नहीं है, इसे सारा जहान जानता है।"

पार्वती—"कहने लगीं, गालियाँ देती है।"

दयावती—"अब लड़कियाँ होती हैं, तो इसमें तुम्हारा क्या पाप? यह कोई अपने बस की बात थोड़े ही है?"

पार्वती—"वह तो समझते हैं कि यह जान-बूझकर लड़कियाँ जनती है।"

दयावती—"आदमी को कुछ तो समझना-सोचना भी चाहिये।"

पार्वती—"जब देखो, तने रहते हैं।"

दयावती—"और तुम्हारा कोई दोष नहीं।"

पार्वती—"जीना दूभर हो गया। हर समय सहमी रहती हूँ।"

दयावती—"पर मेरी तरफ से मन साफ़ कर लो। मैं तुम्हें बड़ी समझती हूँ।"

पार्वती—"मेरा मन तुमसे पहेले ही साफ़ है।"

दयावती—"मेरे कारण तुम्हें ज़रा भी कष्ट न होगा।"

पार्वती ने दयावती को गले लगा लिया और स्नेह-पूर्ण स्वर में कहा—"तूने मुझे बचा लिया। मैं समझती थी, इस घर में मेरे दुश्मन

ही दुश्मन हैं, हित-चिन्तक कोई नहीं। परन्तु तूने मेरा विचार बदल दिया। अब मुझे इतनी शांति है कि कम से कम मुझे तू तो बेगुनाह समझती है।"

सहसा दिया बुझ गया। चारों तरफ़ अन्धकार फैल गया। इस अन्धकार में पार्वती और दयावती दोनों छिप गईं। क्या उनके भाग्य का दिया भी बुझ गया?

(७)

पार्वती महीना भर बीमार रही। दयावती ने सेवा शुश्रूषा में दिन-रात एक कर दिया। उसे हर समय यही चिन्ता रहती थी कि पार्वती किसी तरह बच जाए। वह उसके सिरहाने से न उठती थी। नियत समय पर दवा देती, समय पर दूध। रात को सोते-सोते चौंक उठती और उसे देखती कि सोती है या जागती है। ऐसी चिन्ता, ऐसी व्यग्रता, ऐसी उत्सुकता से किसी माँ ने अपने बच्चे का इलाज भी कम किया होगा। उसे सास समझाती थी, पति रोकता था, मगर वह किसी की न सुनती थी। कहती, इसकी सेवा मैं करूँगी। यह दुखिया है। इसके मन-मन्दिर में प्रेम की जोत जलती है। इसने मेरा मन मोह लिया है। पार्वती की लड़कियाँ दयावती की आवाज़ सुनतीं तो उनकी तबियत हरी हो जाती और इस तरह लपककर आतीं, जैसे वह उनकी माँ हो। उनके रहने-सहने का, खाने पीने का सब प्रबन्ध वही करती थी। यह स्वर्गीय प्रेम; यह विशुद्ध, निर्मल, पवित्र दृश्य देखकर सारा मुहल्ला चकित था। ऐसी उदारता, ऐसी श्रद्धा, ऐसी प्रीति इस स्वार्थ-मय संसार में, इस द्वेषपूर्ण दुनिया में उन्होंने पहले न देखी थी। सौत को देखकर स्त्री के शरीर में आग लग जाती है, उसकी आँखों से क्रोध की चिनगारियां निकलने लगती हैं। यहाँ वही सौत-सौत की सेवा करती थी। यह प्रेम कितना महान्, कितना स्वच्छ था! इसमें आत्मसमर्पण था, विषय-वासना न थी; सेवा का शौक़ था, फल की इच्छा न थी। यह पति-पत्नी

का प्रेम न था, दो महिलाओं का स्नेह था। यह दो सौतों का प्यार न था, दो सखियों की प्रीति थी।

धीरे-धीरे पार्वती की देह में ताक़त आने लगी। दयावती ऐसी खुश थी, जैसे कोई राज्य जीत लिया हो। अब वह दो सखियाँ थीं; सारा दिन एक जगह बैठी रहतीं और बातें करतीं। दयावती सोचती, यह दुखिया है, इससे अन्याय हो रहा है। पार्वती सोचती, मेरी सौत है तो क्या हुआ, पर इसका दिल प्रेम का सागर है। मुझे देखकर खुश हो जाती है। मेल ने दोनों को प्रेम-सूत्र में बांध दिया। कुछ देर सखियाँ बनी रहीं, फिर बहनें बन गईं। पार्वती से सास का व्यवहार वैसा ही कठोर था, परन्तु रामनारायण कभी-कभी हँसकर भी बोल लेते थे। और दयावती सबकी आँखों की पुतली थी।

इसी तरह एक वर्ष बीत गया। पार्वती कुछ महीनों के लिये मायके गई। लौटी तो दयावती की अवस्था ही और थी। न गालों पर वह मोहनी थी, न आँखों में वह जादू। ऐसा मालूम होता था, जैसे दयावती वह दयावती ही नहीं। पार्वती सोलह साल की सुकुमारी छोड़कर गई थी, अब उसे चालीस साल की बुढ़िया मिली। पार्वती पर वज्राघात हुआ। उसने दयावती का हाथ पकड़ा और उसे एकान्त में ले गई। वहाँ जाते ही बोली—"यह तुझे क्या हो गया?"

दयावती—"हुआ तो कुछ भी नहीं।"

पार्वती—"पहचानी नहीं जाती। तेरी सूरत ही बदल गई।"

दयावती—"चल झूठी! मुझे छेड़ती है। तेरी आंखें बदल गई होंगी।"

पार्वती—"गालियाँ देती है। ज़बान भी बदल गई।"

दयावती—"अब तुमसे बातों की बाज़ी में तो मैं कभी न जीतूँगी।"

पार्वती—"अच्छा तो ठीक-ठीक बता दे; छिपाने से कुछ न होगा।"

दयावती—"तुम्हारे वहम का इलाज कौन करे?"

पार्वती—"सास से लड़ाई तो नहीं हो गई?"

दयावती—"बिल्कुल नहीं। वह मुझे माँ से ज्यादा चाहती हैं।"

पार्वती—"उनसे झगड़ा हो गया है?"

दयावती—"वह ऐसे आदमी ही नहीं।"

पार्वती—"बीमार रही है क्या?"

दयावती—(हँसकर) "हाँ बुख़ार चढ़ता रहा है?"

पार्वती—"तो मालूम हुआ, मुझ से छिपाती है। अब न पूछूँगी।"

दयावती रोने लगी। उसको ऐसा मालूम हुआ कि उसके शरीर को तोड़कर प्राण-पंछी बाहर निकल जायगा। सिसकियाँ भरते हुए बोली—"बहन! मुझे कोई रोग नहीं है। मुझसे किसी ने दुर्व्यवहार नहीं किया। मुझे चिंतारोग खा रहा है। मुझे भय हो रहा है कि यह आदर, प्यार, आनन्द के दिन कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। इस सावन की धूप पर कोई विश्वास नहीं। इसकी आयु बहुत थोड़ी है। आज मुझे सब सिर आँखों पर बैठाते हैं लेकिन यह मान, यह सत्कार मेरे लिए नहीं, लड़के के लिए है। उनको लड़के की चाह ने दीवाना बना रखा है। सोचती हूँ अगर मेरे भी लड़की हो गई तो फिर क्या होगा? सबकी आँखें बदल जाएँगी। यह चिन्ता है जो मुझे अन्दर ही अन्दर खा रही है। मैं इस दुःख से घुली जा रही हूँ और मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे लड़की ही होगी और मैं न बचूँगी।"

यह कहकर दयावती रोने लगी। पार्वती के शरीर के रोंगटे खड़े हो गए। उसके मुँह से कुछ न निकला, एक शब्द भी नहीं, न हां, न ना। उसने दयावती का सिर खींचकर अपने गले से लगा लिया और रोने लगी। मगर उसका दिल कह रहा था—"अगर तू मरी, तो मैं भी जीती न रहूँगी।"

आख़िर वह दिन आ गया, जिसकी सबको प्रतीक्षा थी। रामनारायण ने दोनों बहनों को बुला भेजा था। एक दाई रखी, एक लेडी डाक्टर। खाना बनाने के लिए एक स्त्री अलग थी। लेडी डाक्टर ने

कह दिया था, लड़का होगा। रामनारायण ऐसे खुश थे, जैसे किसी भिखारी को राज-सिंहासन मिल जाए, उछलते फिरते थे। उनके पांव धरती पर न पड़ते थे। नौकरों से कहा—इनाम मिलेगा। मुहल्ले वालों से कहा, मिठाई बांटेंगे। इष्ट मित्रों से भोजन देने की प्रतिज्ञा की।

संध्या का समय था। रामनारायण के घर में स्त्रियां दौड़ती फिरती थीं। कानों पड़ी आवाज़ सुनाई न देती थी। लेडी डाक्टर सख्ती के साथ हुक्म देती थी और लड़ती थी। मगर कोई बुरा न मानता था। कहीं गरम पानी पड़ा था, कहीं रूई के फाहे कतरे जा रहे थे। पार्वती उड़ी फिरती थी। दिल में प्रार्थना करती थी कि दयावती के लड़का हो, लड़की न हो। अग लड़की हुई तो हम दोनों की मौत है। अब तो केवल मैं ही अभागिन हूँ, फिर दयावती को भी कोई न पूछेगा। अभी उसकी ख़ातिर कभी-कभी कोई मेरी भी सुध ले लेता है, फिर यह बात भी न रहेगी।

रामनारायण दरवाज़े में बैठे माला फेरते थे और प्रार्थना करते थे, कि प्रभु! यह नैया पार लगा दे। कभी-कभी यह भी विचार आता था कि पार्वती से अन्याय हुआ है। लड़का हो जाए तो उसके साथ ज़रा सख्ती न करूँ। ऐसी एकाग्रता, ऐसी लगन, ऐसी श्रद्धा से उन्होंने कभी प्रार्थना न की थी। संकट हमें परमात्मा का भक्त बना देता है। वैभव में परमात्मा का कभी ध्यान ही नहीं आता। एकाएक अन्दर से कुछ आवाज़ें आईं। रामनारायण ने माला के मनके ज़ोर-ज़ोर से फेरने शुरू कर दिए। घबराये हुए कहते थे, 'परमात्मा! कृपा करो। तुम्हारे बिना और किसी का सहारा नहीं।' इतने में रामनारायण की माँ आकर दरवाज़े पर खड़ी हो गई। रामनारायण ने पूछा—"क्या हुआ?"

माँ ने धीरे से जवाब दिया—"लड़की।"

रामनारायण की उठती हुई उमंगें बैठ गईं। जैसे कबूतर उड़ना चाहता है और बाज़ को ऊपर मंडराते देखकर फिर वहीं बैठ जाता है। उन्होंने माला धरती पर पटक दी और निराशा से इधर-उधर टहलने

लगे। किसी सेठ को अपना सर्वस्व लुट जाने पर भी इतना दुःख न होता।

थोड़ी देर बाद दयावती के पास लेडी डाक्टर और पार्वती के सिवाय कोई भी न था। सब रामनारायण के गिर्द जमा थे। कोई शोक प्रकट करता था, कोई सांत्वना देता था। मगर रामनारायण बिल्कुल चुप थे। चारों तरफ़ देखते थे और ठंडी सांसें भरते थे। दयावती का किसी को भी ख्याल न था।

सहसा पार्वती कमरे में आई और बोली—"दयावती मर गई।"

रामनारायण बैठे थे, यह सुनकर खड़े हो गए और बोले—"क्या कहा तुमने?"

"दयावती मर गई। नवजात लड़की की भी कोई आशा नहीं।"

सारे घर में कुहराम मच गया। रामनारायण, उनकी माँ, उनकी बहनें सब रोने लगीं। उनके आर्तनाद से दुश्मनों के कलेजे भी छलनी होते थे। इस तरह रोती थीं जैसे उनका लड़का मर गया है। केवल पार्वती की आँख में पानी न था। वह कहती थी, कैसे छलिए हैं। दिल में दया नहीं, आँख में आँसू हैं। परमात्मा करे, ऐसे धोखे-बाज़ों के यहाँ कभी सन्तान हो।

दूसरे दिन दयावती और उसकी लड़की दोनों की अर्थी उठी। घर के सब लोग साथ थे, केवल पार्वती न थी। उसे रात ही बुखार हो गया था। रामनारायण ने लड़कियों को उसके पास छोड़ा और स्वयं अर्थी के साथ चले गए।

दाह-कर्म करके लौटे तो घर में पार्वती की लाश पड़ी थी। और उसके पास उसकी अबोध कन्याएं बैठी फूट-फूट कर रो रही थीं। उसने दयावती से कहा था, एक साथ जिएँगी, एक साथ मरेंगी। उसका वचन झूठा न निकला। वह दाह-कर्म के समय पछड़ गई थी, परन्तु परलोक यात्रा में पीछे न रही। दोनों विपद्-ग्रस्त स्त्रियां एक ही दिन दुनिया से रवाना हुईं।

प्रेम-तरु

डेढ़ सौ साल बीत चुके हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का नाम आज भी उसी तरह ज़िन्दा है। गुरदासपुर के ज़िले में कड़याला नाम का एक छोटा-सा गाँव है, जहाँ ज़्यादा आबादी हिन्दू जाटों की है। वहां आप किसी से पूछिए, वह आपको देवी सुलक्खी की समाधि का पता बता देगा। यहाँ प्रति वर्ष मेला लगता है, स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आती हैं, और इस पर घी के दीए जलाती हैं। जब बेर पकते हैं तो सबसे पहले बेर देवी सुलक्खी की समाधि पर चढ़ाए जाते हैं, इसके बाद लोग खाते हैं। क्या मजाल कि इस समाधि पर बेर चढ़ाए बिना कोई बेर को मुँह भी लगा जाए। दीवाली की रात को लोग पहले यहाँ दिए जलाते हैं, इसके बाद अपने घर में जलाते हैं। किसी में इतना साहस नहीं कि देवी सुलक्खी की समाधि पर रोशनी किए बिना अपने घर में रोशनी कर ले। ब्याह के बाद दुलहिनें पहले यहाँ आकर नमस्कार करती हैं, इस के बाद अपने ससुराल में पाँव धरती हैं। किसी में हिम्मत नहीं कि गाँव की इस रीति को तोड़ सके। देवी की समाधि गाँव के मध्य में है। उसके ऊपर श्रद्धालुओं ने संगमरमर की एक सुदृढ़ और सुन्दर छत खड़ी कर दी है। इस छत के ऊपर एक झण्डा लहराता है, जो आस-पास के गांवों से भी नज़र आता है। देवी सुलक्खी ने कोई संग्राम नहीं जीता, न कोई राज्य स्थापित किया; न कोई उसमें विशेष आत्म-शक्ति थी जो लोगों के दिलों को पकड़ लेती, न उसने लोगों के लिए कोई बलिदान किया। वह

एक ग़रीब, सीधी-सादी, अनपढ़, परन्तु सतवन्ती ब्राह्मण-महिला थी, जो एक मूर्ख और हठी जाट के क्रोध का शिकार हो गई। उसने अपने पति से जो प्रण किया था, उस पर वह ध्रुव के समान अटल रही। इसमें सन्देह नहीं, वह साधारण ब्राह्मणों से भी ग़रीब थी, परन्तु पतिव्रत-धर्म की दौलत से मालामाल थी। वह मर्यादा की पुजारिन थी। उसने जो कहा था, वह करके दिखा दिया। उसके पति ने एक वृक्ष को अपनी सन्तान कहा था, सुलक्खी ने मरते दम तक पति के इस वचन को निबाहा। यही बात है जिसने उसे इतने दिनों के बाद आज भी गाँव में जीती जागती शक्ति बना रखा है। हिन्दू देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, मुसलमान पीर-फ़क़ीरों को मानते हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का शासन दोनों के हृदयों पर है।

(२)

देवी सुलक्खी इसी गांव के एक निर्धन ब्राह्मण जयचन्द की स्त्री थी। जयचन्द के घर में स्त्री के अतिरिक्त कोई भी न था—न माँ, न बाप, न बहनें, न भाई। बस, पति-पत्नी थे; कोई बाल-बच्चा भी न था। कुछ दिन इलाज करते रहे, परन्तु जब सारा परिश्रम निष्फल हुआ, तो भाग्य-विधान पर सन्तुष्ट हो कर बैठ रहे। उस युग के ब्राह्मण लोग प्रायः नौकरी इत्यादि न करते थे। न धन-दौलत में उस समय ऐसी मोहिनी थी, न लोग धन को दुर्लभ समझकर उसकी प्राप्ति के लिए अधीर रहते थे। थोड़े ही में गुज़ारा हो जाता था। एक कमाता था, दस खा लेते थे। आज वह ज़माना कहां ? दस कमाने वाले हों, एक बेकार को नहीं खिला सकते। उस समय के ब्राह्मण सारा-सारा दिन पूजा-पाठ में लगे रहते थे। खाने-पीने को जाट यजमानों के यहां से आ जाता था। दोनों को किसी प्रकार की चिन्ता न थी। हां, कभी-कभी निःसन्तान होने पर कुढ़ा करते थे। यदि एक भी बच्चा हो जाता तो दोनों का मन बहल जाता। उनका जीवन मधुर, प्रकाशमय तथा विनोदपूर्ण हो जाता। उनको कोई शुग़ल मिल जाता। अब ऐसा मालूम होता था, जैसे

उनका घर सूना-सूना है, जैसे उनका जीवन लम्बी, अंधेरी, समाप्त न होने वाली रात है, जिसमें कोई तारा नहीं, चाँद नहीं, केवल निराशा के काले बादल घिरे हुए हैं। उन बादलों में कभी-कभी, थोड़ी देर के लिए, आकाश की बिजली भी चमक जाती है; परन्तु उससे उनके दिलों का अन्धकार बढ़ता था, घटता न था। इसी तरह कई साल गुज़र गए।

एक दिन जयचन्द ने अपने आँगन के कोने में नवजात बच्चे के समान बेरी का एक पौधा देखा, जो स्वयं ही उग आया था। पौधा बहुत छोटा था और साधारण पौधों से ज़रा भी भिन्न न था; किन्तु जयचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह पौधा न था, प्रकृति का अद्भुत चमत्कार था। वे उसके छोटे-छोटे रग-रेशे और चिकनी-चिकनी ज़रा-ज़रा सी कोपलें देखकर बेसुध से हो गए। शान्ति के पुतले पर अशान्ति छा गई। दौड़े सुलक्खी के पास गए और बोले—"आओ, कुछ दिखाऊँ। भगवान् ने हमारे घर में बूटा लगाया है, बड़ा सुन्दर है।"

सुलक्खी ने जाकर देखा तो एक नन्हा-सा पौधा था। बोली—"क्या है यह? ऐसे प्रसन्न क्यों हो रहे हो?"

जयचन्द—"बेरी का पौधा है। अभी छोटा है, थोड़े दिनों में बड़ा हो जायगा। इसमें हरे-हरे पत्ते आएँगे। मीठे-मीठे फल लगेंगे। लम्बी-लम्बी डालियाँ फैलाकर खड़ा होगा।"

सुलक्खी ने पुलकित होकर कहा—"सारे आँगन में छाया हो जायगी।"

जयचन्द—"हर साल बेर लगेंगे। खूब मीठे होंगे।"

सुलक्खी—"मैं इसे सदा जल से सींचा करूँगी। थोड़े ही दिनों में बड़ा हो जाएगा। कब तक फलेगा?"

जयचन्द—(पौधे को प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर) "चार वर्ष बाद। तुमने देखा, कैसा प्यारा लगता है! बड़ा होकर और भी प्यारा लगेगा। कैसा चिकना और सुन्दर है! देखकर मन खिल उठता है!"

सुलक्खी—(सरलता से)—"गरमी के दिन हैं, कुम्हला जाएगा। मुझे तो अब भी घबराया हुआ मालूम होता है। ज़रा कोंपलें तो देखो, जैसे प्यास के मारे व्याकुल हो रही हों। कहिए, ताज़ा जल भर लाऊँ? गरमी से बड़ों-बड़ों का बुरा हाल है। यह तो बिल्कुल नन्हीं-सी जान है! (चुटकी बजाकर) अभी लाऊँगी, दो मिनट में।"

जयचन्द—"इस समय तुम कहाँ जाओगी, मैं जाता हूँ।"

मगर सुलक्खी ने कलसा उठा लिया और चली गई। थोड़ी देर बाद दोनों पति-पत्नी उस छोटे-से पौधे को पानी से सींच रहे थे। ऐसे प्यार से, जैसे उनका जीता जागता बच्चा हो; ऐसी भक्ति से, जैसे उनका देवता हो; ऐसी श्रद्धा से, जैसे कोई अमोल वस्तु हो। पौधा सचमुच धूप से कुम्हलाया हुआ था। ठण्डा पानी पीकर उसने आँखें खोल दीं। सुलक्खी बोली—"देख लो! अब इसमें ताज़गी आ गई है या नहीं, क्यों?"

जयचन्द—"मुझे तो ऐसा मालूम होता है, जैसे यह मुस्करा रहा है।"

सुलक्खी—"और मुझे ऐसा मालूम होता है, जैसे हमसे बातें कर रहा है। कहता है—मैं तुम्हारा बेटा हूँ।"

जयचन्द—"भई! यह बात तो तुमने मेरे मुँह से छीन ली। मैं भी यही कहने जा रहा था। हाँ, बेटा तो है ही। इसे खूब प्यार करोगी न?"

सुलक्खी—"तुम्हारे कहने की क्या आवश्यकता है? अपने बेटे को कौन प्यार नहीं करता?"

जयचन्द—"मैं डरता हूँ, कहीं मुझे न भूल जाओ। बड़ी आयु में बालक पाकर स्त्रियाँ पति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती हैं, मगर मुझसे तुम्हारी लापरवाही सहन न होगी। यह अभी से कहे देता हूँ।"

सुलक्खी—"चलो हटो! तुम्हें तो अभी से डाह होने लगी।"

जयचन्द हँसते-हँसते घर के भीतर चले गए, परन्तु सुलक्खी कई घण्टे धूप में खड़ी बेरी की ओर देखती रही और खुश होती रही। आज भगवान् ने उसके घर में रौनक़ भेज दी थी। आज उसको ऐसा अनुभव हुआ, जैसे वह बाँझ नहीं रही—पुत्रवती हो गई है। अबोध बालक छाछ को दूध समझकर खुश हो रहा था।

(३)

अब जयचन्द और सुलक्खी, दोनों को एक काम मिल गया। कभी बेरी को पानी देते कि कुम्हला न जाए, कभी खुरपी लेकर उसके आस-पास की ज़मीन खोदते कि उसे अपनी खुराक प्राप्त करने में दिक्कत न हो; कभी उसके इर्द-गिर्द बाड़ लगाते कि कोई जन्तु हानि न पहुँचाए; कभी दो चारपाइयाँ खड़ी करके उस पर चादर फैला देते कि गरमी में सूख न जाए। लोग यह देखते थे और उनकी इस मूर्खता (?) पर हँसते थे। कोई-कोई कह भी देता था कि इनकी अक्ल मारी गई है, साधारण पौधे को पुत्र समझ बैठे हैं।

मगर प्रेम के इन सरल-हृदय भक्तों को इसकी ज़रा भी परवाह न थी। उन्हें उस बेरी की कोंपलें बढ़ती देखकर वैसी ही प्रसन्नता होती थी जैसी माता-पिता को बच्चे के हाथ-पाँव बढ़ते देखकर होती है। जयचन्द बाहर से आते, तो सब से पहले बेरी की कुशल-क्षेम पूछते। सुलक्खी रात को कई बार चौंककर उठती और बेरी को देखने जाती। शायद उसे भय था कि कोई ऐसी अनमोल वस्तु को उखाड़ कर न ले जाए। ऐसी चाह, ऐसी सावधानी से किसी ग़रीब विधवा ने अपने एकमात्र पुत्र का भी लालन-पालन शायद ही किया हो।

धीरे-धीरे यह प्रेम-तरु बढ़ने लगा। अब वह ज़मीन से बहुत ऊपर उठ आया था। उसका तना भी मोटा हो गया था। डालें भी बड़ी-बड़ी हो गई थीं। रात के समय ऐसा सन्देह होता था, जैसे वह बाहें फैलाकर किसी से गले मिलने को अधीर हो रहा है। सुलक्खी उसे अपनी बेटी और जयचन्द उसे अपना बेटा कहते थे। उसे देखकर उनकी आँखें

चमकने लगती थीं। उनका हृदय-कमल खिल उठता था। यह वृक्ष साधारण वृक्ष न था; उनके रात-दिन के परिश्रम का परिणाम था। इसके लिए उन्होंने अपनी रातों की नींद कुर्बान की थी, इस पर उन्होंने अपने शरीर और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ खर्च कर दी थीं।

इसी तरह प्यार-मुहब्बत और लाड़-चाव के चार वर्ष गुज़र गए और बेरी के फलने के दिन निकट आ गए। जयचन्द और सुलक्खी दोनों के मन की दशा अकथनीय थी। जब बौर आया तो दोनों सारा-सारा दिन आँगन में बैठे उसकी रक्षा किया करते थे कि कहीं कोई पास न फटक जाए। जयचन्द अब पहले की तरह पूजा-पाठ के पाबन्द न रहे थे। सुलक्खी को अब चरखे का ख्याल न था। साधारण वृक्ष के प्रेम ने उन्हें इस तरह बाँध दिया था कि ज़रा हिलते भी न थे। हर समय इसी की बात करते थे। उस समय वह इस संसार से बाहर चले जाते थे। सुलक्खी कहती—"तुम्हारे ख्याल में वह पीले रंग का बौर होगा, मगर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरी बेटी ने सोने के गहने पहने हैं। किस शान से खड़ी है !

जयचन्द कहते—"यह मेरे बेटे की पहली कमाई है। इसे बौर कौन कहता है ? यह तो मोहरें हैं, बल्कि मुझे तो इसके सामने मोहरें भी तुच्छ मालूम होती हैं। उन्हें मनुष्य बनाता है, इसे स्वयं भगवान् ने अपने हाथों से संवारा है। इसके सामने मोहरें और अशरफ़ियाँ किस गिनती में हैं? थोड़े दिनों में यह बेर बन जाएँगे। उनमें जो सुन्दरता, जो यौवन, जो मिठास होगी, वह सोने के उन सिक्कों में कहाँ?"

सुलक्खी कहती—"जिस दिन पहले बेर उतरेंगे उस दिन मिठाई बाँटूँगी।"

जयचन्द कहते—"मैं रतजगा करूँगा। गाँव के सारे लोगों को बुलाऊँगा। सारी रात रौनक रहेगी।"

सुलक्खी कहती—"खूब खर्च करना पड़ेगा।"

जयचन्द कहते—"लोग बेटों के ब्याहों में अपना धन लुटाते हैं। मेरे लिए यही बेटे का ब्याह है। सब कुछ ख़र्च हो जाए, तब भी परवाह नहीं, परन्तु एक बार दिल के अरमान निकल जाएँ, कोई अभिलाषा शेष न रह जाए।

यह सुनकर सुलक्खी किसी दूसरी दुनियाँ में पहुँच जाती थी। उस के हृदयरूपी-समुद्र में खुशी की तरंगें उठने लगती थीं, जैसे चाँदनी रात में समुद्र में ज्वार-भाटा आ जाए।

(४)

आखिर वह दिन भी आ गया, जिसकी पति-पत्नी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे। पहले दिन बेरी के दो सौ बेर उतरे। यह बेर इतने मोटे, ऐसे गोल-मोल, ऐसे लाल, इतने सुन्दर और चिकने थे कि देखकर जी खुश हो जाता था। दोपहर का समय था। सुलक्खी ने पुराने ज़माने की हिन्दू स्त्रियों की तरह नए कपड़े पहने, लाल रंग की फुलकारी ओढ़ी। नाक में नथ पहनी और जाकर जयचन्द के सामने खड़ी हो गई, जैसे उस दिन उसके यहाँ कोई ब्याह-शादी थी। उसको इन वस्त्रों में देखकर जयचन्द मुग्ध-से हो गए। थोड़ी देर तक दोनों के मुँह से कोई बात न निकली। आंखें मूँदकर चुपचाप इस अलौकिक आनन्द से आनन्दित होते रहे। तब जयचन्द ने बेर टोकरी में रखे और सुलक्खी से कहा—"जा! जाकर यजमानों के यहाँ गिनकर बीस-बीस दे आ।"

सुलक्खी ने साहसपूर्ण नेत्रों से पति को देखा और प्यारभरी आवाज़ में कहा—"ईश्वर करे, खूब मीठे हों। लोग बेअख्तियार वाह-वाह कहें। आकर बधाइयां दें। कहें, ऐसे बेर सारे गांव में नहीं हैं।"

जयचन्द ने दस बेर अपने लिए रख लिए थे। उनकी ओर ताकते हुए बोले—"तू ख्वाहमख्वाह मरी जाती है। दूसरों के लिए मीठे न होंगे, न सही; पर हमारे लिए इनसे मीठी वस्तु संसार में और कोई नहीं है। यह मैं चखे बिना कह सकता हूँ। जा, देर हुई जाती है। तू बांटकर आ जाए तो एक साथ खाएँ।"

सुलक्खी ने पति की ओर श्रद्धा से देखकर उत्तर दिया—"मैं एक-आध घर में दे लूं, तो तुम खा लेना। मेरी राह देखने की क्या आवश्यकता है?"

जयचन्द—"वाह! आवश्यकता क्यों नहीं? एक साथ खाएँगे। अकेले में क्या मज़ा आएगा? ज़रा जल्दी लौट आना नहीं, लड़ाई होगी।"

सुलक्खी ने छोटा-सा घूँघट निकाला और बेरों की टोकरी उठाकर बाँटने चली, जैसे कोई ब्याह-शादी की मिठाई बाँटने जा रही हो। थोड़ी देर में एक यजमान दौड़ता हुआ आया और बोला—"पण्डित जी! बधाई है। बेर खूब मीठे हैं।"

जयचन्द का दिल धड़कने लगा। मुँह गुलाब हो गया। बोले—"अच्छा, आपने खाए हैं?"

यजमान—"खाए क्या हैं! एक बेर चखा है। मगर वाह भई, वाह! गुड़ से भी मीठा है। आम से भी मीठा है। कोई और बेर है या नहीं?"

जयचन्द की बाँछें खिली जाती थीं। उन्होंने दो बेर उठाकर यजमान के हाथ में रख दिए। यजमान खाता जाता था और तारीफ़ करता जाता था। कहता था—"पण्डित जी! यह बेर क्या हैं, चीनी के खिलौने हैं। मेरी इतनी आयु हो गई, मगर ऐसे बेर मैंने आज तक नहीं खाए। परमात्मा जाने, इनमें कैसा स्वाद है, मालूम होता है जैसे सुगन्ध भरी है।"

जयचन्द—"परमात्मा ने हमारी मेहनत सफल कर दी।"

यजमान—"सारे इलाक़े में ऐसे बेर मिल जायें तो मूछें मुंडवा दूँ। दूर-नज़दीक से लोग आया करेंगे। मालूम होता है, आपने अभी तक नहीं चखे।"

जयचन्द—"यजमानों को भेंट कर लूँ, फिर खाऊँगा।"

यजमान—"हैरान रह जाओगे। ऐसे बेर काबुल, क़न्धार में भी न होंगे। हमारे घर में दस-बीस बेरों से क्या बनता है? देखते-देखते ख़तम

हो गए। और बेर कब तक उतरेंगे ? हम बीस और लेंगे !"

जयचन्द—"आपका अपना वृक्ष है। दो-चार दिन तक और उतरेंगे तो भिजवा दूँगा। मुझे दूसरों को खिलाकर जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह खाकर नहीं होती। लीजिए, दो और ले जाइए। छै बाक़ी हैं। हम दोनों तीन-तीन खा लेंगे। हमें यही बहुत हैं।"

थोड़ी देर बाद एक और यजमान आया। उसने भी इतनी तारीफ़ की कि जयजन्द की आँखें चमकने लगीं। बोला—"यह प्रेम का वृक्ष है, इसमें प्रेम के बेर लगे हैं। इससे मीठे संसार भर में न होंगे। भई ! इतनी मेहनत कौन करता है ? आप दोनों ने एक मिसाल क़ायम कर दी है। दो बेर खाए हैं, दो और मिल जाएँ तो मज़ा आ जाए। फालतू हैं या नहीं ?"

जयचन्द ने मुस्कराकर कहा—"छै बचे हैं। दो आप ले जाइए। दो दो हम खा लेंगे।"

यजमान—"यह तो अन्याय होगा। रहने दीजिए। फिर सही। और बेर कब तक उतरेंगे ?"

जयचन्द—"आप ले जाइए। हमें स्वाद देखना है। पेट थोड़ा भरना है। (बेर हाथ पर रखते हुए) रात रतजगा है। आइयेगा ना ! कोई बेटे का ब्याह करता है, कोई पोती-पोते का मुण्डन करता है। मेरी आयु में यही एक दिन आया है। यही खुशी का पहला दिन है, यही अन्तिम दिन होगा। और क्या ?"

यजमान—"ज़रूर आऊँगा, पण्डित जी ! मगर बेर खूब मीठे हैं, अभी तक मुँह से सुगन्ध आ रही है।"

यह कहकर यजमान चला गया। इतने में दो और आ गए। पण्डित जी के पास चार बेर बाक़ी थे। वह उनकी भेंट हो गए। उनके पास अब एक भी बेर न था। पण्डित जी दिल में डरे कि सुलक्खी से क्या कहूँगा ? कहीं ख़फ़ा न हो जाए। तैश में न आ जाए। परन्तु सुलक्खी इस प्रकार की स्त्री न थी। सारा वृत्तान्त सुनकर बोली—

"आपने बहुत अच्छा किया। हमारा क्या है? फिर खा लेंगे। अपना वृक्ष है; जब चाहा, दो बेर तोड़ लिए। कहीं माँगने थोड़ा जाना है।"

जयचन्द—"गाँव में धूम मच गई है। कहते हैं—ऐसे बेर दूर-दूर तक नहीं हैं।"

सुलक्खी की आँखों में आँसू आ गए। नथ को सम्भालते हुए बोली—"सभी कहते हैं—और दो। बेर क्या हैं, खोए के पेड़े हैं।"

जयचन्द—"कहते हैं, इनमें सुगन्ध भी है।"

सुलक्खी—जो खाता है, चटखारे लेता है। कहते हैं—"ऐसा मज़ा न आम में है, न संगतरे में।"

जयचन्द—"यह सब तुम्हारे परिश्रम का फल है। रोज़ पानी दिया करती थीं। तुम्हारे हाथों का पानी अमृत हो गया।"

सुलक्खी—"और जो तुम कपड़ों से छाया करते फिरते थे, उसका कोई असर ही नहीं? यह सब उसीका फल है।"

जयचन्द—"तुम देर में लौटीं। नहीं तो एक-एक खा लेते। अब दो-चार दिन के बाद पकेंगे।"

(५)

परन्तु जयचन्द के भाग्य में बेर पकाना लिखा था, बेर खाना न लिखा था। रतजगे के बाद उनको सहसा बुख़ार हो गया। गाँव में जैसा इलाज हो सकता था, हुआ। हकीम ने समझा, थकावट का बुखार है। साधारण औषधियों से उतर जाएगा; परन्तु वह थकावट का बुख़ार न था, मृत्यु का बुख़ार था, जिसकी दवा दुनिया के बड़े से बड़े हकीम के पास भी नहीं थी। चौथे दिन प्रातःकाल जयचन्द सुलक्खी से घंटा भर धीरे-धीरे बातें करते रहे। बातें क्या करते रहे, रोते और रुलाते रहे। दुनियादारी की बातें समझाते रहे। ये बातें उनके जीवन का सार थीं। सुलक्खी ये बातें सुनती थी और रोती जाती थी। इस समय उसका दिल बस में न था। वह चाहती थी, जिस तरह भी हो, पति को बचा ले। यदि उसके बस में होता; तो वह अपनी जान देकर भी उन्हें बचा लेती।

इसमें उसे ज़रा भी संकोच न था, परन्तु जो भाग्य में बदा हो, उसे कौन रोक सकता है। थोड़ी देर बाद इधर संसार का सूर्य उदय हो रहा था, उधर जयचन्द के जीवन और सुलक्खी की दुनिया का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया।

अब सुलक्खी संसार में बिल्कुल अकेली थी। अब उसका सिवाय एक छोटे भाई के और कोई भी न था। थोड़े दिन रोती रही, इसके बाद चुप हो गई। इसलिए नहीं कि मृत्यु का शोक भूल गई, बल्कि इसलिए कि उसकी आँखों में आँसू न रहे थे। रो-रो कर आँसू भी समाप्त हो जाते हैं। मगर उसके दिल के घाव हमेशा हरे थे। उसे किसी तरह कल न पड़ती थी। पति की मृत्यु के बाद किसी ने उसे हँसते हुए न देखा। न अच्छा खाती थी, न अच्छा पहनती थी। उसका ज्यादा समय दुःखी लोगों की सेवा में गुज़रता था। गाँव में कोई बीमार होता, सुलक्खी पहुँच जाती। फिर उसे सोना हराम था। सरहाने से न उठती थी। हर समय सेवा में लगी रहती थी, जैसे माँ बच्चे की तीमारदारी कर रही हो। जब वह स्वस्थ हो जाता, तब घर लौटती। उसकी इन सेवाओं ने गाँव वालों के मन मोह लिये। कहते थे—यह स्त्री नहीं, देवी है। अब उन्हें मालूम होता था कि यदि यह न हो, तो गाँव वालों पर विपत्ति टूट पड़े। उसे दुनिया की किसी वस्तु से प्रेम न था—किसी वस्तु की परवा न थी, जैसे उसने संन्यास ले लिया हो, जैसे उसने दुनिया की हर एक वस्तु का परित्याग कर दिया हो।

परन्तु एक वस्तु से उसे अब भी प्यार था, यह उसकी बेरी थी। वह अब भी उसका उसी तरह ख्याल रखती थी। उसको उसको उसी तरह पानी देती थी। उसी तरह देख-भाल करती थी। गर्मी में उसके पत्तों को कुम्हलाया हुआ देखकर अब भी उसी तरह अधीर होजाती थी। रात को चौंक-चौंक कर अब भीउसे देखती थी। बाहर जाती तो भाई लछमन से कह जाती, बेरी का ख्याल रखना। जब बेर लगते, तो दो-तीन महीने उसके पास से न उठती, कहीं ऐसा न हो, जानवर आकर कुतर जाएँ। जब बेर उतरते,

तो सारे गाँव में बाँटती, जिस तरह पहले साल बाँटे थे। मगर आप बेर को मुँह न लगाती थी। न पहले साल खाये थे, न अब खाती थी। उसका भाई लछमन खूब पेट भरकर खाता था। वह कहता था, वह बेर इस दुनिया के नहीं, स्वर्गपुरी के हैं। कभी कहता ऐसे बेर स्वर्ग में भी न होंगे। बहन से कहता, तू भी चखकर देख। वह कहती—"वह खाते तो मैं भी खाती। उन्होंने नहीं खाए, मैं भी नहीं खाऊँगी।"

लछमन कहता—"तू अभागी है।"

सुलक्खी उत्तर देती—"अभागी न होती, तो वह क्यों मरते ? अब तो सारी आयु इसी प्रकार बीत जायेगी।"

गुरदासपुर के कई दुकानदारों ने बेरी मोल लेनी चाही, पर सुलक्खी ने साफ़ इनकार कर दिया। कहा—"मरती मर जाऊँगी, मगर बेरी न दूँगी।"

एक दुकानदार ने कहा—"दो सौ रुपया ले ले, बेरी दे दे।"

सुलक्खी ने उत्तर दिया—"तू दो हज़ार दे, तब भी न बेचूं। दो लाख दे, तब भी न बेचूं।"

दुकानदार—"तू अजब स्त्री है। न खाती है न बेचती है।"

सुलक्खी—"बाँटती तो हूँ। मेरे लिए यही खुशी की बात है। मैं नहीं खाती, क्या हुआ; सारा गाँव तो खाता है।"

दुकानदार—"परन्तु इससे तुझे क्या मिल जाता है ? जिसको बेर खाने की इच्छा होगी, पैसे देकर ख़रीद लेगा।"

सुलक्खी ने दुकानदार की ओर करुणापूर्ण दृष्टि से देखा, और कहा—"मैं ब्राह्मणी हूँ, कुँजड़िन नहीं, जो अपनी बेरी के बेर बेचूं। न भाई ! यह न होगा। तू अपने रुपए ले जा, मुझे यह सौदा स्वीकार नहीं।"

एक दूसरे दुकानदार ने कहा—"तू बेरी बेच दे तो मैं ५००) दूं। बोल है इरादा ?"

सुलक्खी—"यह बेरी नहीं है, हमारी सन्तान है। अपनी सन्तान कौन बेंचता है?"

दुकानदार—"यह तेरा भ्रम है। आदमी की सन्तान आदमी होता है, वृक्ष नहीं होता।"

सुलक्खी—"यह अपना-अपना विचार है। कई आदमी ऐसे भी हैं जो ठाकुर को पत्थर कहते हैं।"

दुकानदार—"मुझे तो वृक्ष ही मालूम होता है।"

सुलक्खी—"तेरी आँखों में वह जोत कहाँ, जो इसकी असली सूरत देख सके? वृक्षों के बेर ऐसे मीठे कहाँ होते हैं?"

लछमन अब चुप था, यह सुनकर बोला—"ऐसे मीठे बेर तुमने कहीं और भी देखे हैं? एक-एक बेर एक आने को भी सस्ता है।"

दुकानदार—"यह ठीक है। किन्तु आख़िर है तो बेरी।"

सुलक्खी—"नहीं भैय्या! यह बेरी नहीं है, मेरे स्वामी की यादगार है। जो अपने स्वामी की यादगार को बेच दे, उसे मरकर नरक भी न मिलेगा।"

दुकानदार—"अब, इसका क्या उत्तर दूँ? ५००) थोड़े नहीं होते। तेरी सारी आयु सुख से कट जाएगी।"

सुलक्खी—"भय्या! जो सुख मुझे इसको पानी देकर होता है वह सुख रुपए लेकर कभी न होगा।"

दुकानदार—"तो पानी देने से तुझे कौन रोकता है? जितना चाहे, पानी दे। अगर तेरा हाथ पकड़ जाऊँ तो जो चोर की सज़ा, वह मेरी सज़ा।"

सुलक्खी—"परन्तु जो बात अब है, वह फिर कहां? अब अपना है, फिर पराया हो जायगा। अब बेर सारे गाँव में बाँटती हूँ, फिर तू हाथ भी न लगाने देगा। गाँव के जिन लोगों के पास पैसे नहीं, वह क्या करेंगे? बेरों को देखेंगे, और ठंडी सांस भरकर रह जायेंगे। मुझे कोसेंगे, दिल में गालियाँ देंगे। अब सबको मुफ्त मिलते हैं फिर किसी को भी न

मिलेंगे। गाँव के छोटे-छोटे बच्चे कहेंगे, कैसी लोभिन है, चार पैसों की ख़ातिर बेरी बेच दी। न भाई! यह कलंक का टीका न खरीदूंगी। मैं ग़रीब ही भली।"

यह कहकर सुलक्खी बेरी के पास चली गई और उसकी डालियों पर हाथ फेरने लगी।

और यह उस स्त्री का हाल था, जिसने किसी पाठशाला में विद्या नहीं पढ़ी थी; जिसने कर्म-धर्म पर कोई व्याख्यान न सुना था, जिसके पास खाने को कुछ न था, जो अपने यजमानों के दान पर निर्वाह करती थी; परन्तु उसका हृदय कितना विशाल, कितना पवित्र था! उसने पड़ोसियों के कर्तव्य को कितना ठीक समझा था। ऐसी पवित्र-हृदया, सुशीला तथा सभ्या देवियाँ संसार में कम जन्म लेती हैं।

(६)

कई वर्ष बीत गए।

ज्येष्ठ का महीना था। सुलक्खी बेरी के सारे बेर बाँट चुकी थी। अब बेरी पर एक बेर भी बाक़ी न था। सुलक्खी बेरी के पास खड़ी उसकी खाली डालियों को देखती थी और खुश होती थी कि इस साल का कर्तव्य भी पूरा हो गया। इतने में एक यजमान हाड़ीराम ने आकर सुलक्खी को नमस्कार किया और बोला—"पण्डितानी जी! हमारे बेर कहाँ हैं?"

सुलक्खी का मुँह कुम्हला गया। हैरान थी, क्या कहे, क्या न कहे। हाड़ीराम गाँव में सबसे उजड्ड जाट था। ज़रा-ज़रा सी बात पर जोश में आ जाता था और मरने-मारने को तैयार हो जाता था। उसकी लाल आँखें देखकर सारा गाँव सहम जाता था। वह अपने परिवार-सहित दो महीने से कहीं बाहर गया हुआ था। सुलक्खी एक दो-बार उसके मकान पर गई और किवाड़ बन्द पाकर लौट आई। उसके बाद वह उसे भूल-सी गई और बेर समाप्त हो गए। और अब—

हाड़ीराम उसके सामने खड़ा था। सुलक्खी ने उसकी ओर सहमी

हुई निगाहों से देखा और कहा—"यजमान ! बेर तो खतम हो गए।"

हाड़ीराम ने ज़रा गर्म होकर कहा—"वाह ! ख़तम कैसे हो गए ? हमें तो मिले ही नहीं !"

सुलक्खी—"तुम जाने कहां चले गए थे ? दो बार तुम्हारे मकान पर लेकर गई, दोनों बार दरवाज़ा बन्द था। लौट आई। इसके बाद मुझे खयाल नहीं रहा।"

हाड़ीराम—(त्योरियाँ चढ़ाकर)—"ख्याल क्यों नहीं रहा। इतनी बच्चा भी तो नहीं हो।"

सुलक्खी—(शान्ति से) "अब यजमान ! तुम से बहस कौन करे; भूल हो गई। अगले साल दुगने ले लेना।"

हाड़ीराम—"खाना तो कभी नहीं भूलती हो, न फ़सल पर गल्ला माँगना भूलती हो, हमारे बेरों का समय आया तो भूल गई।"

सुलक्खी—"तुम बाहर चले गए थे। क्या करती ?"

हाड़ीराम—"वृक्ष में लगे रहने देती। मैं आता, उतार लेता !"

सुलक्खी—"और जो एक २ कर गिर जाते, तो फिर ? अब किसी के मुँह में तो पड़ गए। उस अवस्था में किसी के भी काम न आते।"

हाड़ीराम के नेत्रों से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी। गरजकर बोला—"मेरे बेर जब मेरे काम न आएँ तो मुझे क्या; चाहे, रहें चाहे मिट्टी में मिल जाएँ, मेरे लिए एक सी बात है। तू दूसरों को देने वाली कौन थी ?"

अब सुलक्खी को भी क्रोध आया। ज़रा तेज़ होकर बोली। "बेरी मेरी है, तुम्हारी नहीं। जिसको चाहूँ, एक बेर भी न दूँ; जिसको चाहूँ, सब-के-सब दे दूँ। बेरी तुम्हारे हाथों बिकी हुई नहीं। तुम बोलने वाले हो कौन ?"

हाड़ीराम—"अच्छा, अब हम कौन हो गये ?"

सुलक्खी—(उसी तरह गुस्से से) "मेहनत मैं करती हूँ। रात-दिन मैं जागती हूँ, फिर सारे-के-सारे बेर बाँट देती हूँ। आप एक बेर भी नहीं

खाती। इस पर भी इतना क्रोध! आखिर आदमी को कुछ सोचना भी तो चाहिए। जाओ, नहीं दिए न सही। जा कुछ करना हो कर लो।"

हाड़ीराम दाँत पीसता हुआ चला गया। इधर सुलक्खी बेरी के पास जाकर उससे लिपट गई और बोली—"बेटी! अगर तुम्हारा बाप जीता होता, तो इसकी क्या हिम्मत थी, जो इस तरह मेरी बेइज्जती कर जाता।"

इससे तीसरे दिन सुलक्खी एक बीमार बच्चे की सेवासुश्रूषा कर रही थी कि एक लड़का दौड़ता हुआ आया और हाँफता हुआ बोला—"तुम्हारी बेरी को हाड़ी ने काट दिया। कई लोगों ने मना भी किया, मगर वह कहता था, मुझे सुलक्खी ने गाली दी है। सारा आँगन भर गया है।"

(७)

सुलक्खी को ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी ने गोली मार दी है। वहाँ से चली तो उसे रास्ता न दिखाई देता था। उसके पाँव तले से ज़मीन निकलती जा रही थी। उस समय उसके शरीर में ज़रा भी शक्ति न थी। पाँव इस तरह लड़खड़ा रहे थे, जैसे अभी गिर पड़ेगी। मार्ग के दोनों ओर लोग खड़े उसको देखते थे और हाड़ी को गालियाँ देते थे। उस समय उन्हें सुलक्खी का विचार था, हाड़ी का भय न था। वे सुलक्खी के साथ सहानुभूति दिखाना चाहते थे और उन्हें सिवा हाड़ी को गालियाँ देने के और कोई ढंग न दिखाई देता था।

उधर सुलक्खी का आँगन स्त्री-पुरुषों से भरा था। और बीच में बेरी पड़ी थी। लोग कहते थे—"कितना जालिम है, ज़रा सी बात पर बेरी काट दी। काटने पर ही सबर किया होता तो भी खैर थी। अगले वर्ष फिर उग आती, परन्तु इसने तो जड़ें भी उखाड़ दीं। आदमी काहे को है, चांडाल है।

सहसा सुलक्खी छोटा-सा घूँघट निकाले आई और आंगन में खड़ी हो गई। उसने बेरी की डालों को ज़मीन पर पड़ा देखा तो उसके दिल पर छुरियां चल गईं। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह वृक्ष की

डालियां नहीं उसकी सन्तान के हाथ-पांव हैं। उसने आगे बढ़कर एक-एक डाली को गले लगाया और रो-रोकर विलाप किया। इस विलाप को सुनकर लोग रोने लगे। सुलक्खी कहती थी—"अरी! तूने मुझे बुला क्यों न लिया? बच्ची, पता नहीं! जब तुझ पर ज़ालिम का कुल्हाड़ा चला होगा, तेरा दिल क्या कहता होगा। तड़पता होगा। सोचता होगा, मां काहे को है, डायन है। यह कसाई मेरे हाथ-पाँव काट रहा है, वह बाहर घूम रही है। बच्ची! मुझे क्या मालूम था, तेरे सिर पर मौत खेल रही है। अभी भली चँगी छोड़कर गई थी, अभी-अभी तू बाहें फैलाकर खड़ी थी। तुझे देखकर जी प्रसन्न होता था। इतनी जल्दी तैयारी कर ली। अब तेरे बेरों को तरसेंगे, ऐसे मीठे बेर और कहाँ हैं?"

"तेरे बाप ने मरते समय कहा था, जब तक जीती है, इसकी रक्षा करना, और इसके बेर लोगों में बाँटना। आज ये दोनों बातें असम्भव हो गई। अब मेरा जीना वृथा है। चल दोनों एक साथ चलें वहाँ तीनों मिलकर रहेंगे।"

यह कहकर उसने बेरी की डालियों की चिता-सी चुनी। नीचे-ऊपर सूखी लकड़ियाँ डालकर उस पर घी डाला और आग लगा दी। आग की ज्वालाएँ हवा में उठने लगीं। लोग पीछे हट गए, मगर सुलक्खी जलती हुई बेरी के पास चुपचाप खड़ी उसकी ओर देख रहीं थी।

सहसा वह चिता में कूद पड़ी। लोगों में हलचल मच गई। वे "हैं-हैं" कहते हुए आगे बढ़े, परन्तु आग की ज्वालाओं ने उनका रास्ता रोक लिया। सुलक्खी आग में बैठी जल रही थी, किन्तु उसके मुख पर ज़रा परेशानी—ज़रा घबराहट न थी, बल्कि आत्मिक प्रकाश था, जैसे उसके लिये आग न थी, ठंडा जल था। इतने में आग में से आवाज़ आई—"मैं मरते समय वसीअत करती हूँ कि मेरे कुल के लोग भविष्य में दान न लें।

पुरुषों की आँखों में आँसू जारी थे। स्त्रियाँ फूट-फूटकर रो रहीं थीं, परन्तु सुलक्खी मृत्यु के गरजते हुए शोलों में चुपचाप बैठी थी। देखते-

देखते माँ-बेटी दोनों जलकर भस्म हो गईं। कल दोनों जीते थे, आज कोई भी न था।

थोड़ी देर के बाद सुलक्खी का भाई लछमन और गाँव के जाट लाठियाँ लिए हाड़ीराम को ढूँढते फिरते थे। वे कहते थे—"आज उसको जीता न छोड़ेंगे। पहले मारेंगे, फिर बांधकर आग में जला देंगे।"

परन्तु हाड़ीराम जंगलों और वनों में मुँह छिपाता फिरता था। इस के बाद उसको किसी ने नहीं देखा—कब मरा? कहाँ मरा? कैसे मरा? —यह किसी को भी मालूम नहीं।

पराजय

(पात्र)

महामाया—जसवन्तसिंह की रानी। कुलीना—जसवन्तसिंह की माता
जसवन्तसिंह—जोधपुर के राणा साहब। अचलसिंह—नगर-रक्षक।

पहला दृश्य

स्थान—जोधपुर के क़िले का एक कमरा।

समय—दिन के दस बजे।

(महामाया और कुलीना बातें कर रही हैं)

महामाया—नहीं, माँ! नहीं, मेरा दिल अभी तक अशान्त है। मैं कुछ नहीं कर सकती।

कुलीना—आठ दिन बीत गए हैं, परन्तु तेरा दिल अभी तक अशान्त है। यह तेरा पागलपन है।

महामाया—ठीक है, मैं ही पागल हूँ। (ठंडी साँस लेकर) वह तुम्हारा बेटा है, तुम उसकी माँ हो। तुम उससे क्या कह सकती हो! और मैं पराये घर की बेटी हूँ। मैं ही पागल हूँ।

कुलीना—(प्यार से) मेरी बेटी! जो कुछ भी हो, वह तेरा पति है।

महामाया—मगर वह कायर है। उसने दुश्मन को पीठ दिखाई है। वह प्राण बचाने के लिये रण-क्षेत्र से भागा है। माँ ज़रा सोचो, लोग

अपने-अपने घर में हमारे बारे में क्या कहते होंगे। मेरी राजसखियाँ, जो मेरा भाग्य सराहती थीं, आज मेरे दुर्भाग्य पर शोक कर रही होंगी।

कुलीना—महामाया ! मेरी बच्ची !

महामाया—(भर्राई हुई आवाज़ में) अगर वह राजपूत था, अगर उसने वीर माता का दूध पिया था, अगर वह राजपूत सिंहनी की गोद में पलकर जवान हुआ था, तो उसे चाहिये था रण-भूमि में डट जाता, मृत्यु के भय को पांव-तले मसल डालता और संसार को दिखा देता कि राजपूत का बच्चा मृत्यु और जीवन दोनों को समान समझता है। माँ ! मैं समझती थी, मेरा पति सूरमा है। मेरा ख्याल था, वह आदर के जीवन और आदर की मृत्यु दोनों की व्यवस्था जानता है, मगर (दीर्घ निःश्वास लेकर) हाय शोक ! यह मेरी भूल थी—वह हारकर भी, अपनी और दूसरों की दृष्टि में अपमानित होकर भी ज़िन्दा रहना चाहता है।

कुलीना—मेरी बच्ची ! जोश में न आ। इससे कुछ प्राप्ति न होगी। आज्ञा दे कि क़िले के द्वारा खोल दिए जाएँ ! आठ दिन द्वार पर पड़े रहना साधारण दण्ड नहीं है।

महामाया—साधारण दण्ड नहीं है ! माँ, राजपूत के बेटे के लिए हारकर भाग आना ऐसा पाप है जिसका कोई प्रायश्चित नहीं। कदाचित् मेरी आंखें यह दुर्दिन देखने से पूर्व सदा के लिए बन्द हो जातीं, तो मैं इसे अपना सौभाग्य समझती।

कुलीना—धीरज धर, मेरी बच्ची ! धीरज धर, तेरी जीभ के ऐसे शब्द सुनकर मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता है।

महामाया—और अपने बेटे की वीर-घटना सुनकर तो तुम्हारी छाती हर्ष से फूल उठी होगी, क्यों ?

कुलीना—(आह भरकर) यह तू क्या कहती है मेरी बच्ची ! तू तो मुझे भली-भांति जानती है। आज तू मुझे यह ताने दे रही है।

महामाया—(कुलीना के कन्धे पर सिर रखकर) माँ ! क्या तुझे मेरे दुर्भाग्य पर दया नहीं आती ? राजपूज मां की कोख से जन्म लिया,

राजपूतों के वीर परिवार में ब्याही गई, और फिर भी मुझे भीरु, कायर, जीवन का लोभी पति मिला! जहां शूरवीर हर्ष से पागल हो उठता है, जहाँ सच्चे राजपूतों को आगे-पीछे का ध्यान नहीं रहता, उसने वहाँ भी अपने प्राणों को प्यारा समझा और भागकर घर में आश्रय लेने आया है। माँ! क्या सचमुच वह तेरा बेटा है? नहीं मालूम होता है, वह तेरा बेटा नहीं है। तूने किसी का पुत्र लेकर पाल लिया है। तू बहादुर है! तू सच्ची राजपूतनी है। तेरे दूध में यह निर्लज्जता नहीं हो सकती। वह तेरा बेटा नहीं है। वह तेरा बेटा नहीं हो सकता।

कुलीना—मेरी बच्ची! चांद और सूरज भी ग्रहण के समय काले हो जाते हैं।

महामाया—(चौंककर) मां! मुझे एक और ख्याल आया है। (सोचती है)

कुलीना—(अनमनी-सी) क्या?

महामाया—(रुक-रुककर) शायद यह राणा न हों, कोई छलिया उनके रूप में धोखा देने आया हो। यह ऐसे कायर नहीं थे। उनकी रगों में न हारने वाली शक्ति, उनके लहू में न बुझने वाली अग्नि, उनकी भुजाओं में न झुकने वाली ताक़त थी। मैंने उनको निकट होकर देखा है, मैंने उनका दिल पढ़ा है—वे सूरमा थे। उनको आन प्यारी थी, उनको जान प्यारी न थी।

कुलीना—(आँसू पोंछकर) मेरा भी यही ख्याल था, मेरी बच्ची!

महामाया—एक दिन कहते थे, राजपूत की कसौटी मौत है। मैंने हँसकर पूछा, अगर आप किसी दिन युद्ध-क्षेत्र से हारकर भाग आएं, तो मुझे क्या करना उचित है? मां! जानती हो, उन्होंने मेरे इस अपमान-सूचक प्रश्न का क्या उत्तर दिया? अगर तुम समीप होतीं तो अपने पुत्र को गले से लगा लेतीं। उन्होंने कहा, महामाया! अगर कभी मेरे जीवन में ऐसा अशुभ समय आ जाय, तो अपनी कटारी मेरी छाती में भोंक देना, यह मुझ पर सबसे बड़ा उपकार होगा।

कुलीना—उस समय वह सच्चे राजपूत के समान बोल रहा था।

महामाया—एक दिन कहते थे, युद्ध-क्षेत्र में हार जाना लज्जा की बात नहीं, लज्जा की बात यह है कि वीर-पुरुष हारकर जीता रहे। जो वीरात्मा है, वह हार सकता है, हारकर जीता नहीं रह सकता। अपनी मां, बहन, स्त्री के सामने सिर नहीं उठा सकता। उसके लिए पराजय और मृत्यु एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

कुलीना—मेरा बेटा सचमुच बड़ा बहादुर था। न जाने, आज उसे क्या हो गया ?

महामाया—(उन्मत्त भाव से) कुछ नहीं हुआ, माँ! वे आज भी उसी तरह बहादुर हैं। वे लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं और यह नराधम, नरक का कीड़ा, जो हमारे द्वार पर पड़ा है उनके कपड़े चुराकर और डाकुओं को लेकर हमें धोखा देने आया है।

कुलीना—(आकाश की ओर देखकर) काश, तुम्हारा ख्याल ठीक होता!

महामाया—(आश्चर्य से) ठीक होता! तो क्या तुम्हें भी सन्देह है ? क्या तुम भी उनको इतना पतित समझती हो ? नहीं माँ, नहीं। वे युद्ध में मारे जा चुके हैं, मैं अब विधवा हो चुकी हूँ। नौकरों से कहिए, चिता चुन दें, मैं उनका नाम लेते-लेते सती हो जाऊँगी।

कुलीना—(महामाया को गले से लिपटाकर रोते हुए) मेरी बच्ची! तुझे क्या हो गया है ?

महामाया—(सुनी-अनसुनी करके) वह स्वर्ग में मेरी बाट जो रहे होंगे। झुक-झुककर नीचे की तरफ़ देखते होंगे। मेरे बिना घबरा रहे होंगे। आज्ञा दो मां! (हाथ बांधकर) वे क्षात्र-धर्म का पालन कर चुके, अब मेरे नारी-धर्म का पालन करने की बारी है। (ऊँची आवाज़ से) मालती! वीरा!! शक्ति!!!

(तीनों सहेलियों का सिर झुकाए हुए प्रवेश)

महामाया—(बिना उनकी तरफ़ देखे धीरे-धीरे) चन्दन की

लकड़ियाँ मँगाकर चिता चुन दो.........मेरे सारे बढ़िया कपड़े, अनमोल आभूषण ले आओ............मैं उनसे मिलने जा रही हूँ। मैं आज आग के उड़न-खटोले पर सवार होऊँगी।

(सहेलियाँ पहले घबरा जाती हैं, फिर एक-दूसरी की तरफ़ देखती हैं। इसके बाद कुलीना की तरफ़ देखती हैं।)

कुलीना—पागल हो गई है।

महामाया—(चौंककर) कौन पागल है ? (फिर स्वयं ही उत्तर देती है) वही, जो मेरे पति के भेस में मुझे ठगने के लिए आया है। (कुछ देर चुप रहने के बाद) सचमुच वह पागल है, जो समझता है कि मैं भेस और शक्ल-सूरत से धोखा खा जाऊँगी। यह उसकी भूल है। मैंने पहचान लिया, यह कोई और आदमी है, यह महाराणा जी नहीं हैं। (घूमते हुए) यह महाराणा जी नहीं हैं, किसी से पूछ लो।

कुलीना—मेरी बेटी ! मेरी प्यारी बच्ची !!

महामाया—(कटार निकालकर)—अच्छा, पहले चलकर उसे उसी की कसौटी पर परख लूँ। मालती ! वीरा !! शक्ति !!! जाओ, जाकर दुर्ग-रक्षक से कहो, दरवाज़ा खोल दे, मैं यह कटार उसकी छाती में घोंप दूँगी। अगर राणा जी होंगे; मेरे कर्तव्य-पालन की प्रशंसा करेंगे। अगर कोई लम्पट होगा, कटार देखकर चिल्लाता हुआ भाग जायगा। मालती ! वीरा !! शक्ति !!!

शक्ति—महारानी जी ! क्या आज्ञा है ?

महामाया—चिता तैयार हुई या नहीं ? राज-पुरोहित आया या नहीं। मेरे आभूषण कहाँ हैं ? तुम विलम्ब कर रही हो, राणाजी ख़फ़ा हो रहे होंगे।

शक्ति—(कुलीना से) राजमाता ! आपने देखा, इनको क्या हो गया ?

कुलीना—इनको पकड़कर शयनागार में ले चलो और वैद्यराज से कहो, अभी आकर औषधि दें ! मैं अभी आती हूँ।

(सहेलियों का महामाया को सहारा देकर ले जाना और अचलसिंह का प्रवेश)

कुलीना—अचलसिंह ! कोई नवीन समाचार है ?

अचलसिंह—रात चार घायल सिपाही और मर गए। महाराणा के जख्म अभी तक नहीं भरे।

कुलीना—महाराणा क्या महामाया से बहुत नाराज़ हैं ?

अचलसिंह—नाराज़ नहीं, उदास हैं। उनको अपने ऊपर क्रोध है। कल कई घण्टे रोते रहे हैं, उनको सारी रात नींद नहीं आई। अगर आज्ञा हो तो क़िले का दरवाज़ा खोल दिया जाय। आख़िर कब तक बाहर पड़े रहेंगे ?

कुलीना—मैं क्या कर सकती हूँ, महामाया नहीं मानती।

अचलसिंह—आप जो चाहें, कर सकती हैं। क़िले में कौन है, जो आपकी आज्ञा न माने।

कुलीना—महारानी महामाया है, मैं कुछ नहीं कर सकती।

अचलसिंह—आप राजमाता हैं, आप सब कुछ कर सकती हैं।

कुलीना—राजमाता बीते हुए कल की रानी है। आज की रानी महामाया है, उसके सम्मुख मैं भी सिर नहीं उठा सकती।

अचलसिंह—मगर उन्होंने कभी आपकी किसी बात का विरोध नहीं किया।

कुलीना—यह उसकी कृपा है।

अचलसिंह—सामन्तों की सम्मति है, आप उनको विवश करके दरवाज़ा खुलवा दें।

कुलीना—यह मेरी भूल होगी।

अचलसिंह—तो फिर क्या आज्ञा है ?

कुलीना—(सोचकर) महामाया को होश आ जाए, तो मैं उससे पूछूँगी। इस समय तुम जाओ, दो-तीन घण्टे बाद आना।

दूसरा दृश्य

स्थान—उसी क़िले का दूसरा कमरा

समय—दोपहर

(महामाया एक पलंग पर लेटी है, पास सहेलियां वीरा, शक्ति, मालती बैठी हैं । सिर की तरफ दवा की शीशियाँ रखी हैं । महामाया चुपचाप छत की तरफ देख रही है । उसके कपोलों पर आंसू बह रहे हैं । सहेलियां रूमाल से आंसू पोंछ रही हैं ।)

शक्ति—महारानी ! रोने से क्या हो जाएगा ? धीरज धरिये । यह साधारण बात है ।

महामाया—(ठण्डी आह भरकर) शक्ति ! यह साधारण बात नहीं है । मुझसे मेरा गौरव छिन गया । मेरे हृदय में जो उनके लिए श्रद्धा थी, वह जाती रही । मैं अपनी दृष्टि में आप गिर गई, यह साधारण बात है !

शक्ति—मगर महारानी ! युद्ध में हार-जीत दोनों की सम्भावना है । किसी न किसी को हारना पड़ेगा । दोनों नहीं जीत सकते ।

महामाया—हार की सम्भावना है, मगर हारकर माँ की गोद में भाग आने की संभावना नहीं है, और वह भी एक राजपूत के लिए । ओह शक्ति ! तुम नहीं जानतीं, मेरा रुधिर जल रहा है । जी चाहता है, क़िले की सब स्त्रियाँ चलें और दीवार पर से तीर बरसा-बरसाकर उन भगोड़ों का काम तमाम कर दें । उनको पता लग जाए कि जब राजपूत युद्ध में हारकर घर को लौटते हैं तो उनकी स्त्रियाँ, उनकी बहनें, उनकी माताएँ उनका स्वागत किस तरह करती हैं । जी चाहता है, हम उनको बता दें कि ऐ नामर्दो ! तुमने अपना कर्तव्य भुला दिया है, मगर तुम्हारे घर की देवियों में यह भाव अभी तक ज़िन्दा है । (जोश से उठकर बैठ जाती है ।) जी चाहता है, हम उनको बता दें कि जो राजपूत युद्ध से भागकर घर की तरफ भागता है, उसके घर की स्त्रियाँ उसकी गर्दन के

लिए उसके घर के दरवाज़े पर नंगी तलवार लेकर खड़ी हो जाती हैं।

शक्ति—(लिटाते हुए)—लेट जाइए ! आपके लिए यह जोश हानिकारक है।

महामाया—परन्तु उस कायर के लिए हानिकारक नहीं है। (थोड़ी देर के बाद) ! वीरा ! क्या दुर्गरक्षक ने दरवाज़ा खोल दिया।

वीरा—आपकी आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है ?

महामाया—यह मेरी आज्ञा न थी, माँ जी का आदेश था, वर्ना मैं उनको दरवाज़ा कभी न खोलती। (एकाएक चिल्लाकर) वीरा ! शक्ति !! मालती !!! उठो, दौड़कर जाओ। दुर्ग-रक्षक से कहो, दरवाज़ा न खोले, मैंने अपनी सम्मति बदल दी है।

मालती—दरवाज़ा खुल चुका, वे कभी के अन्दर आ चुके।

महामाया—अब भी जाओ, मेरा मुँह क्या देख रही हो ? (मिन्नत से) अब भी जाओ और उन सब भगोड़ों को धक्के मार-मारकर क़िले के बाहर निकाल दो, वर्ना इस पवित्र देश की पावन भूमि अपवित्र हो जाएगी।

(एकाएक कुलीना का प्रवेश)

कुलीना—नहीं मेरी बहादुर बच्ची ! तेरे क़िले के अन्दर आकर उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठेगी।

महामाया—माँ, तू ने क्या कहा ? (उठकर सास के गले से लिपट जाती है।) फिर कहो, माँ ! फिर कहो, उनकी सोई हुई आत्मा जाग उठेगी। मैं इस एक क्षण के लिए अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए तैयार हूँ। मैं अपना राज दे सकती हूँ, मैं अपना जीवन दे सकती हूँ, मैं अपने जीवन को जीवन के उल्लास और प्रकाश से खाली कर सकती हूँ, किसी तरह उनकी आत्मा जाग उठे। वे फिर से वैसे ही वीर, वैसे ही निर्भय बन जाएँ। मैं और कुछ नहीं चाहती।

कुलीना—तुम मुझ पर विश्वास करो, मैं उसको सचेत कर दूँगी।

महामाया—मैं आपके कहने पर मरने को भी तैयार हूँ।

कुलीना—(बात का रुख बदलकर) तुमने दवा पी या नहीं ?

महामाया—(सिर झुकाकर) अभी नहीं।

कुलीना—मालती! दवा दो, यह पगली आत्म-हत्या करने पर तुली हुई है।

(मालती दवा पिला देती है)

अब जसवन्तसिंह आ रहा है, उसका अपमान न करना। थका हुआ है, घायल है, कई रातों का जगा हुआ है। हारकर आया है, क्रोध में होगा। दरवाज़े पर पड़ा रहा है, लज्जित होगा। तुम्हारे कटु वचनों से और भी बिगड़ जायगा। तुम्हारी दो मीठी बातों से उसे सारे कष्ट भूल जाएँगे।

महामाया—(बेबसी से) माँ! मुझे क़तल कर दो, मगर यह न कहो। मुझ से यह न होगा। मेरे हृदय में घृणा की आग जल रही है।

कुलीना—आज सायंकाल से पहले-पहले वह फिर लड़ने को चला जायगा। (महामाया के सिर पर स्नेह से हाथ फेरकर) वह स्वभाव से योद्धा है, यह क्षणिक जीवन-प्रेम का भाव ज्यादा देर तक स्थिर नहीं रह सकता।

महामाया—(आशापूर्ण स्वर से) आज सायंकाल से पहले-पहले फिर लड़ने को चले जायँगे, यह कौन कहता है ?

कुलीना—मैं।

महामाया—आप इन शब्दों का अर्थ समझती हैं ?

कुलीना—मैंने आज तक कभी झूठ नहीं बोला।

महामाया—(हाथ बांधकर) मेरा अपराध क्षमा हो, मेरा तात्पर्य यह कभी न था।

कुलीना—चलो लड़कियो! यह कमरा खाली कर दो। (सहेलियों का चला जाना।) ले मेरी बच्ची! वह आ रहा है, उससे अच्छी तरह पेश आना, और कहना, रसोई-घर में चलिये, मेरी श्रद्धा है, अपने हाथ से हलवा बनाऊँ और आपको अपने सामने बैठाकर खिलाऊँ।

महामाया—मैं हलवा बनाकर खिलाऊँगी ! नहीं, यह मुझ से न होगा, मां !

कुलीना—यह उसके मानसिक रोग की अमोघ औषधि है ।

महामाया—(आश्चर्य से) हलवा !

कुलीना—यह हलवा उसके गले के नीचे न उतरेगा । वह इसे केवल एक बार देखेगा और घोड़े पर चढ़कर क़िले से बाहर निकल जाएगा । मैं उस भूले हुए शेर बच्चे को शीशे के सामने ले जाकर उसका मुँह दिखा देना चाहती हूँ ।

महामाया—फिर इस हलवे का क्या होगा ?

कुलीना—पुत्र के पुनरुत्थान के उपलक्ष्य में किले की स्त्रियों में बांटा जाएगा ।

(कुलीना हँसकर चली जाती है)

महामाया—भगवान् उनकी आँखें खोल दे, नहीं मेरा जीवन मेरे लिए असह्य हो जाएगा ।

(महाराणा जसवन्तसिंह धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं । उनके सिर और भुजाओं पर पट्टियां बँधी हैं, मुँह का रङ्ग पीला है, आंखों में लज्जा है । पति और पत्नी दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं और चुप रहते हैं । इसके बाद राणा पलंग पर बैठ जाते हैं, महामाया पास आ जाती है ।)

जसवन्तसिंह—(ज़मीन की ओर देखते हुए) महामाया ! यह पराजय जीवन भर न भूलूँगा ।

महामाया—(तीखी दृष्टि से देखकर) ख़ैर, यह साधारण बात है । प्राण बच गए, यही बड़ी बात है ! प्राण-रक्षा राजपूत का सर्व-प्रथम धर्म है ।

जसवन्तसिंह—मैंने अपनी तरफ़ से पूरा-पूरा यत्न किया, परन्तु मेरी कोई पेश न गई ।

महामाया—सत्य है, असहाय मनुष्य क्या कर सकता है ?

जसवन्तसिंह—(महामाया की बात को न समझकर ज़रा साहस से) मनुष्य प्रारब्ध के हाथ का खिलौना है। वह उसे जिधर चाहती है, उठाकर फेंक देती है।

महामाया—मनुष्य की इससे अच्छी परिभाषा मैंने आज तक नहीं सुनी। कहिए, जख़्मों का क्या हाल है ?

जसवन्तसिंह—इससे तुम्हें क्या ? तुमने अपनी तरफ़ से मेरा अपमान करने में कोई कोर-क़सर नहीं उठा रखी।

महामाया—आपने भूल की, आपको आगे न बढ़ना चाहिए था। लड़ने के लिए सेना होती है, सेनापति को पीछे रहना चाहिए। उसका संकट में पड़ना उसकी मूर्खता है।

जसवन्तसिंह—(क्रोध से) मालूम होता है, तुम मेरी हँसी उड़ा रही हो।

महामाया—राम, राम ! मुझ में यह साहस कहाँ कि आप जैसे विश्व-विजयी की हँसी उड़ा सकूँ।

जसवन्तसिंह—तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैं तुम्हारा पति हूँ, और जोधपुर का महाराणा हूँ।

महामाया—(तिलमिलाकर) आपको भी मालूम होना चाहिये कि मैं वीर पिता की बेटी हूँ, और मुझे निर्लज्जतापूर्ण जीवन से घृणा है।

जसवन्तसिंह—तो क्या तुम चाहती हो कि मैं वहाँ मर जाता ?

महामाया—यह मेरे और मेरे कुल के लिये गौरव की बात होती।

जसवन्तसिंह—मुझे यह पता न था कि तुम्हें विजय इतनी प्यारी है।

महामाया—मुझे विजय नहीं, आन प्यारी है। आन के सामने सारे संसार को तुच्छ समझती हूँ।

जसवन्तसिंह—घर में बैठी बातें करती हो, एक बार युद्ध में चली जाओ तो होश ठिकाने आ जाएँ।

महामाया—पहले पुरुष चूड़ियाँ पहन लें, फिर स्त्रियाँ घर में रह जायँ, तो नाक कटा दूँ।

(कुलीना का हंसते हुए प्रवेश)

कुलीना—(महामाया को आँख से इशारा करके) क्यों बेटी! आते ही वाक्-युद्ध प्रारम्भ कर दिया। तुम अभी मूर्ख हो। उठो, रसोई घर में चलकर अपने हाथ से हलवा बनाओ। मेरा बेटा समर से जीता लौटा है। आज मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

जसवन्तसिंह—माँ! तुमने सुना, यह स्त्री अभी-अभी क्या कह रही थी? जी चाहता है......।

कुलीना—बेटा! शान्त हो। यह तो गँवार है। तू चलकर रसोई में बैठ।

जसवन्तसिंह—नहीं, माँ, मैं इसके साथ वहाँ कभी न जाऊँगा। उफ़! कितनी हृदयहीन है, कहती है......।

महामाया—(तड़पकर) क्या कहती हूँ?......

कुलीना—(बात काटकर) चुप बहू, मैं आज के दिन तुम्हारा यह झगड़ा नहीं देख सकती। उठो, चलकर रसोई में बैठो। मगर सावधान, कोई लड़ाई-झगड़े की बात न करे। आज खुशी का दिन है।

तीसरा दृश्य

स्थान—उसी महल का रसोई-घर

समय—दोपहर

(महामाया हलवा बना रही हैं। महाराणा किसी गहरी चिन्ता में निमग्न सामने बैठे हैं। महामाया उनकी तरफ़ देखती हैं और उसकी आँखों से चिनगारियां निकलने लगती हैं। साफ़ मालूम होता है कि उसके हृदय में उथल-पुथल मच रही है।)

महाराणा—सिपाहियों की मरहम-पट्टी हो रही है क्या ?

महामाया—(रुखाई से) हो रही होगी ? मैंने आज्ञा दे रखी है।

महाराणा—(थोड़ी देर चुप रहने के बाद) देखता हूँ, तुम्हारा क्रोध अभी तक नहीं उतरा।

महामाया—(भुने हुए आटे में चीनी की चाशनी डालते हुए) उतरे या न उतरे, इसकी आपको क्या परवाह है ?

महाराणा—तुम्हारे क्रोध की मुझे परवाह नहीं तो और किसे है ? मैंने अपनी अनुपस्थिति में क़िले का सारा भार तुम्हारे सुपुर्द कर दिया था। तुमने आदेश किया, हम द्वार पर रोक दिये गए। यह मेरा घोर अपमान था, मगर मैंने तुम से एक शब्द भी नहीं कहा, क्योंकि मैं तुम्हारी नेकनीयती स्वीकार करता हूँ। तुम फिर भी कहती हो, मुझे तुम्हारी परवाह नहीं ! (हँसकर) चलो, अब जाने दो। जो हो गया, सो हो गया। और यह कोई ऐसी बात नहीं, जिसके लिए......।

महामाया—(कड़ाहे में कड़छा मारते हुए) आपके लिए यह साधारण बात होगी। मेरे लिये यह दिन मेरे जीवन का सबसे बुरा दिन है।

महाराणा—(तेज़ होकर) तो आख़िर तुम क्या चाहती थीं ? मैं मर जाता तो तुम खुश हो जातीं ?

महामाया—कायरों के लिए मरना बड़ा कठिन है। वह मौत को देखकर दूर ही से भाग निकलते हैं।

(चूल्हे में लकड़ी झोंकती है)

महाराणा—महामाया ! तुम्हारा एक-एक शब्द विष में बुझा हुआ तीर है।

महामाया—युद्ध से भागकर आए हुए लोगों को मीठे वचन सुनने का कोई अधिकार नहीं।

(फिर हलवा बनाने में लीन हो जाती है)

महाराणा—महामाया ! महामाया !

महामाया—(कपड़े से कढ़ाहे के दोनों सिरे पकड़कर) मीठे वचन

नहीं तो क्या हुआ, मीठा हलवा तो है। यह पराजय का पुरस्कार है, पेट-भर खाइये। (कढ़ाहा नीचे उतारकर पति के मुँह की तरफ़ देखती है।) एक दिन वह था, जब इज़्ज़त की बाज़ी हारकर राजपूत किसी को मुँह न दिखा सकता था। आज समय कितना बदल चुका है। माता प्रसन्न होती है, स्त्री हलवा बनाती है और भागा हुआ पति रसोई में बैठकर मीठी-मीठी बातें सुनना चाहता है। उसे यह बात भूल गई है कि युद्ध के अवसर पर विलासिता की बातें करना देश और जाति के लिए महान् पाप है।

(कड़छा लेने के लिये इधर-उधर देखती है)

महाराणा—मैं चाहता हूँ, तुम पुरुष होतीं।

महामाया—मैं चाहती हूँ, आप स्त्री होते।

(कड़ाहे में ज़ोर-ज़ोर से कड़छा चलाती है, इसकी आवाज़ सुनकर कुलीना घबराई हुई प्रवेश करती है।)

कुलीना—महामाया! यह काहे की आवाज़ है—यह तुम क्या कर रही हो?

महामाया—(आश्चर्य से) कढ़ाहे में कड़छा चला रही हूँ, माँ जी!

कुलीना—अरी बेटी! कड़छा बाहर निकाल, नहीं अन्धेर हो जाएगा।

महामाया—(और भी चकित होकर) माँ! इससे क्या अन्धेर हो जाएगा, मैं कुछ भी नहीं समझी।

(महामाया थाल में हलवा डाल देती है।)

कुलीना—काहे को समझोगी? जैसे तुम अभी दूध-पीती बच्ची हो, जैसे कुछ जानती ही नहीं। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि लोहे से लोहा बजता देखकर मेरा बेटा मेरी गोद में छिपने के लिए यहाँ भागकर आया है। क्या तुम उसे यहाँ से भी भगाना चाहती हो? बेटी! अब वह कहाँ जाएगा, यहाँ से भागकर उसे आश्रय का स्थान कहाँ मिलेगा—परमेश्वर के लिए यह लोहे का कड़छा बाहर फैंक दो। कहीं ऐसा न हो, वह फिर

लोहे के कढ़ाहे से टकरा जाए, और मेरा बेटा डरकर यहाँ से भी भाग निकले, फिर मैं क्या करूँगी ?

(महामाया का मुँह चमकने लगता है, मगर वह अपनी खुशी छिपाती है और हलवे से थाल भरकर पति के सामने रख देती है। महाराणा कुछ देर चुप रहते हैं, इसके बाद थाल को परे सरका देते हैं और जोश से तनकर खड़े हो जाते हैं।)

महाराणा—बस कर, माँ ! बस कर, तूने मेरी आँखें खोल दी हैं, तूने मुझे जगा दिया है, तूने मुझे अन्धेरे से निकालकर ज्योति और जीवन के पथ पर डाल दिया है। कितनी लज्जा और शोक की बात है कि राजपूत का बच्चा पराजित होकर भाग आए। भगवान् जाने, मुझे क्या हो गया था। मुझे वहीं कट मरना चाहिए था। परन्तु—

(महामाया पति की तरफ़ श्रद्धापूर्ण प्रेम से देखती है।)

तुम्हारा कहा-सुना व्यर्थ नहीं गया। मैं अपनी कायरता के लिए तुमसे क्षमा माँगता हूँ।

कुलीना—बेटा ! तू अब फिर वही निर्भय, युद्धवीर, साहसी जसवन्तसिंह है; जिसने मेरा दूध पिया था; जिसने मेरे कुल का नाम उज्ज्वल करने का व्रत लिया था, जिसके मुँह की ओर देखकर मेरी मुरझाई हुई आशाएँ हरी हो जाती हैं। महामाया खुश हो, तेरा स्वामी अपनी पराजय के काले दाग़ को मिटाने के लिए खड़ा हो गया है।

महामाया—यह सब आपकी ही कृपा है।

महाराणा—माँ ! मुझे तुझ पर भी गौरव है और इस पर भी गौरव है। तुम दोनों ने मिलकर मेरी आँखें खोल दी हैं। हमारी आने वाली सन्तान यह सुनकर खुशी से पागल हो जाएगी कि उनका एक पूर्वज पराजित होकर घर आया, तो उसकी पत्नी ने उसे घर के अन्दर आने की आज्ञा न दी। राष्ट्रीय गौरव और अभिमान का ऐसा उज्ज्वल, ऐसा सजीव, ऐसा ओजमय दृष्टान्त मानव-जाति के इतिहास में किसी ने कम

देखा होगा। इससे भारतवर्ष को अपना सिर ऊँचा उठाने का अवसर मिलेगा। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे ऐसी धर्मपरायणा स्त्री मिली, जिसको मेरी मर्यादा, मेरे प्राणों से भी प्यारी है।

महामाया—(सिर झुकाकर धीरे से) माँ, इनसे कहो, मेरा अपराध क्षमा कर दें।

महाराणा—तेरा अपराध हमारे कुल का सबसे बड़ा गौरव है। (माँ की तरफ़ देखकर) मगर माँ! मैं राजपूत हूँ और राजपूत इतना आत्मगौरव-रहित कभी नहीं होता। मुझे बता, मेरी इस कायरता का मूल कारण क्या है?

कुलीना—यह तेरा नहीं, मेरा दोष है। (दोनों चौंक पड़ते हैं। कुलीना धीरे-धीरे कहती है, जैसे कोई भूली हुई घटना याद कर रही है।) यह उन दिनों की बात है, जब तेरी आयु केवल दो वर्ष की थी। एक दिन मैं भोजन बना रही थी और तेरे पिता जी इसी रसोई-घर में इसी स्थान पर बैठे खा रहे थे। एकाएक तू रो-रोकर दूध के लिए मचलने लगा। मैंने सोचा, मेरी देह गर्म है। अगर तूने दूध पिया तो बीमार हो जाएगा, इसलिए मैंने दासी से कहा, इसे बाहर ले जाकर चुप करा। मगर तू बराबर रोता रहा।

(महामाया पति की ओर कनखियों से देखती है और मुस्कराती है।)

महाराणा—फिर?

कुलीना—दासी ने तुझे चुप कराने के लिए अपना दूध पिला दिया। आध घंटे बाद मुझे यह बात मालूम हुई तो मैंने तेरे गले में उँगली डालकर क़ै करा दी; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दूध की दो-एक बूँदें फिर भी तेरे पेट में रह गईं। दासी के दूध की वे बूँदें आज इस पतन के रूप में प्रकट हुई हैं। यह तेरा दोष नहीं, उसी दूध का प्रभाव है।

महाराणा—अस्तु, जो कुछ भी हो, इस कायरता के कलंक को अपने लहू से भी धोने को तैयार हूँ, अब तुमको यह शिकायत न

रहेगी। कोई है, मेरी तलवार और कवच लाओ और सेना से कहो, तैयार हो जाए।

कुलीना—देवता वह दिन दिखाएँ, जब मेरा बेटा विजय-पताका उड़ाता हुआ घर आए।

(कुलीना चली जाती है। महामाया धीरे-धीरे आकर महाराणा के पास खड़ी हो जाती है। फिर सिर उठाकर उनकी तरफ़ देखती है। फिर मुस्कराती है और फिर अपनी भुजाएँ उनके गले में डाल देती है।)

महामाया—आपने मेरा अपराध क्षमा किया ?

महाराणा—(महामाया को गले से लिपटाकर) तुम्हारा अपराध मेरे जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति है।

महामाया—अब आप मुझ से रुष्ट तो नहीं हैं ?

महाराणा—तुमसे रुष्ट होने का यह अर्थ है कि मुझ-सा मूर्ख मेरे राज्य में कोई नहीं है। तू स्त्री नहीं हीरा है। मेरी दृष्टि में तू इतनी पवित्र, इतनी उज्ज्वल कभी न थी। (थोड़ी देर बाद) देवी ! अब आज्ञा दो, सेना तैयार होगी।

महामाया—इतनी जल्दी ! क्या आप कल नहीं जा सकते ? एक दिन विश्राम कर लीजिए।

(महाराणा की तरफ़ प्यार से देखती है, और अपना सिर उनके कन्धे पर रख देती है।)

महाराणा—(मुस्कराकर) युद्ध के अवसर पर विलासिता की बातें करना देश और जाति के लिए महान् पाप है।

महामाया—(चौंक उठती है) अच्छा हलवा तो खा लीजिए, (लजाकर) आपकी प्यारी महामाया ने आपके लिए अपने हाथ से बनाया है।

महाराणा—(फिर महामाया के शब्द दोहराते हैं) क्या यह पराजय का पुरस्कार है। (मुस्कराकर) मैं कैसा भाग्यवान् हूँ कि हारकर भी ऐसी

मीठी चीज़ें मिल रही हैं। महामाया! तूने मेरी आँखें खोल दी हैं, तूने मुझे सीधा मार्ग दिखा दिया है, तूने मुझे भूला हुआ कर्तव्य स्मरण करा दिया है। अब वही तू मेरे सामने अपना असीम प्रेम और हृदयग्राही मुस्कान लेकर क्यों खड़ी हो गई? यदि अब मुझमें फिर निर्बलता आ गई, तो यह मेरा नहीं, तेरा दोष होगा। (ठहरकर) तो मेरे हृदय की रानी! अब आज्ञा है? जाऊँ?

महामाया—हाँ, प्राणनाथ! जाइए और विजय के डंके बजाते हुए आइए। वहाँ समर-स्थल में मेरा प्रेम आपकी रक्षा करेगा।

(महाराणा का तेज़ी से चले जाना)

महामाया—(उदास होकर) चले गए मैंने उनको ताने दे-देकर फिर भेज दिया! (आसमान की तरफ़ देखकर) प्रभु! उनकी रक्षा करो। जिस तरह खुश-खुश गए हैं, उसी तरह खुश-खुश वापस आएँ।

(कुलीना का प्रवेश)

कुलीना—वीरवधू! तू अब यहाँ खड़ी क्या सोच रही है? पगली! उदास हो गई! नहीं, तुझे यह उदासी, यह हृदय की निर्बलता नहीं सुहाती। तू सबला है, तेरा पति सच्चा वीर है। चल उठ, यह हलवा सिपाहियों के घरों में बाँट आएँ। इसके बाद सेना को विदा करना है।